

## व्याख्यान-1

### 1. निम्न-पुरापाषाण काल (500000 ई.पू. लगभग, Lower Palaeolithic Period)

**परिभाषा :** वह पुरापाषाण काल जो स्तरीकरण में सबसे नीचे प्राप्त होता है निम्न-पुरापाषाण काल के नाम से जाना जाता है। दूसरे शब्दों में पाषाण काल के प्रारम्भिक चरण को प्रारम्भिक पाषाण काल कहा जा सकता है। उपकरणों एवं क्षेत्र विशेष के आधार पर इस संस्कृति को क्रोड संस्कृति, फलक संस्कृति, कुट्टव्यक-कुट्टन्तिक संस्कृति तथा हस्त-कुठार-विदलक संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है। जैसे सोहन घाटी में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कुट्टव्यक-कुट्टन्तिक उपकरण अधिक प्राप्त होते हैं, जबकि चेन्नई के आस-पास पल्लावरम, गुडियम, अतिरमपक्कम आदि स्थलों में हस्त-कुठार-विदलक उपकरण। मद्रास के समीप पाये जाने के कारण इसे 'मद्रासियन संस्कृति' के नाम से जाना जाता है। बर्किट एवं कमियाडे ने इस काल के पाषाण उपकरणों को सीरीज़-एक के अन्तर्गत रखा।

**उपकरण प्रकार तथा उपयोगिता:** इस संस्कृति से सम्बन्धित प्रमुख तीन प्रकार के पाषाण उपकरण ही प्रकाश में आते हैं—हस्त-कुठार, खुरचनी तथा विदलक। फलकित किए हुए क्रोड उपकरण, उपकरणों पर बड़े फलकीकरण के चिह्न, उन्नत शंकु युक्त बड़े आकार के फलक उपकरण, गुटिकाश्म के बने कुट्टव्यक (Chopper) अथवा कुट्टन्तिक (Chopping) उपकरण इस मूल संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं। उक्त तीनों प्रकार के उपकरणों को निम्नलिखित उपप्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—

1. **हस्त-कुठार अथवा बेधक (Handaxe):** कुठार से तात्पर्य कुल्हाड़ी से है। परन्तु वास्तव में ये उपकरण कुल्हाड़ी जैसे नहीं होते, इन उपकरणों में आमतौर पर नोक मिलती है अतः इन्हें बेधक कहना अधिक उपयुक्त होगा। ये उपकरण क्रोड तथा फलक के निर्मित होते हैं। फलक उपकरण की अवस्था में फलक के सपाट तल को फलकीकृत कर उत्तल बनाने की प्रक्रिया दिखलाई देती है अतः इनके दोनों तल उभरे हुए होते हैं जो आगे चलकर सँकरे होते हुए नोक का निर्माण करते हैं। आकार के आधार पर इनकी उपयोगिता स्पष्ट होती है कि इनका प्रयोग हाथ में पकड़ कर अथवा लकड़ी के डंडे में बांध कर किया जाता रहा होगा। इन उपकरणों का उपयोग सुरक्षा, जीव-जन्तुओं के आखेट, बेधने तथा खोदने जैसे कार्यों में किया जाता रहा होगा। आकार के आधार पर इसके निम्नलिखित प्रकार दिखलाई देते हैं—

- . त्रिभुजाकार (Triangular)
- . बरछाकार (Lanceolate)
- . नाशपात्याकार (Pear Shaped)
- . अण्डाकार (Ovate)
- . बादामाकार (Almond Shaped)
- . हृदयाकार (Heart Shaped or Cordate)
- . मिकोकियन (Micoquian, स्थान के नाम पर)
- . गुटिकाश्म के हस्तकुठार— कुट्टव्यक Proto handaxe, कुट्टन्तिक, गुटिका समन्तान्त

हस्तकुठार (Pebble-butted Handaxe)

- . क्लेक्टोनियन (स्थान के नाम पर) फलक पर निर्मित हस्तकुठार
- . छेनी छोर हस्तकुठार (Chisel ended Handaxe)

2. **खुरचनी (Scraper):** इन उपकरणों की ऊपरी सतह उभार युक्त उत्तल तथा निचली सतह सपाट होती है। यह बहुपयोगी उपकरण है, इसका प्रयोग प्रायः हाथ से पकड़ कर किया जाता था। खाल तथा हड्डी से मांस खुरचने, छाल तथा लकड़ी खुरचने, काटने आदि कार्यों में यह उपयोगी रहा होगा। आकार तथा उपयोगिता के आधार पर इसके निम्नलिखित प्रमुख प्रकार हैं—

- पार्श्व-खुरचनी (कार्यांग लम्बाई के अनुरूप)
- अन्त-खुरचनी (कार्यांग चौड़ाई के अनुरूप)
- उत्तल-खुरचनी (कार्यांग चन्द्राकार)
- अवतल-खुरचनी (कार्यांग भीतर की ओर चन्द्राकार)
- वृत्ताकार खुरचनी (वृत्ताकार परिधि पर कार्यांग होता है)

3. **विदलक (Cleaver):** इसका स्वरूप बिना छिद्र वाली कुल्हाड़ी जैसा होता है, आमतौर पर कार्यांग सीधा अर्थात् क्षैतिज अथवा चन्द्राकार, क्रोड उपकरण होने पर उसके दोनों उभरे हुए तल ढलते हुए तीक्ष्ण कार्यांग का निर्माण करते हैं, कभी-कभी एक तल सपाट हो सकता है। फलक उपकरण होने पर उसका एक तल सपाट होगा। इन उपकरणों का प्रयोग हाथ से पकड़ कर अथवा डंडे में बांध कर प्रायः शिकार, लकड़ी तथा हड्डी को काटने में इनका उपयोग किया जाता रहा होगा। मोटे तौर पर आकार के आधार पर इसके निम्नलिखित प्रकार प्राप्त होते हैं—

समलम्ब-चतुर्भुजाकार (ऊपरी छोर वृत्ताकार अथवा चपटा)  
चन्द्राकार (कार्यांग चन्द्रकार तथा विपरीत पार्श्व चपटा)

### उपकरण निर्माण प्रविधि (पद्धति अथवा तकनीक):

वास्तव में उपकरण निर्माण के पूर्व मानव ऐसे पाषाण खण्डों का उपयोग उपकरण के रूप में काटने, छीलने तथा बेधने वाले कार्यों में करता रहा जो भारी भरकम जीवों के चलने के फलस्वरूप टूटते रहे, ऐसे उपकरणों को अंग्रेजी में 'इओलिथ' की संज्ञा दी गई है। उपयोग के दृष्टिकोण से ऐसे उपकरण प्रभावशाली कार्यांगों के अभाव में शीघ्र ही अपनी उपयोगिता खो बैठे क्योंकि उनमें सबसे बड़ी कमी पकड़ (मूठ, बट) का सुडौल न होना रहा है। बौद्धिक विकास के साथ-साथ मानव ने अपनी इच्छानुसार उपकरणों को बनाना आरम्भ किया। उसने पत्थर को तोड़ने के उपाय खोजे। इन उपकरणों की रूप-रेखा पत्थर ताड़ने की अविकसित पद्धति के कारण पर्याप्त सुडौल नहीं होती थी। अपनी प्रारम्भिक अवस्थाओं में ऐसे उपकरण उपयोग में लिये जाते रहे साथ ही साथ उपकरण निर्माण तकनीक के विकास पर भी मानव ध्यान देता रहा जिससे अच्छी कोटि के उपकरण निर्मित किये जा सकें। पाषाणकाल के उपकरण निर्माण पद्धति मूलरूप से निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—

1. हथौड़ा पद्धति
2. निपीडन पद्धति
3. छेनी हथौड़ा पद्धति
4. घर्षण पद्धति

निम्न पुरापाषाण काल में मुख्यरूप से हथौड़ा पद्धति का प्रयोग दिखलाई देता है। मध्य पुरापाषाण काल से निपीडन पद्धति का प्रयोग भी आरम्भ हुआ। उच्च पुरापाषाण काल में निपीडन तथा छेनी हथौड़ा पद्धति का प्रयोग हुआ जिसका परिपालन कालांतर में होता रहा। नव पाषाण काल में हथौड़ा पद्धति से उपकरण निर्माण करने के पश्चात् घर्षण पद्धति से उन्हें चिकना तथा चमकदार बनाने की क्रिया को अपनाया गया। इस प्रकार कालांतर में उपकरण निर्माण की उक्त चारों पद्धतियों में से आवश्यकतानुसार उचित पद्धतियों को अपना कर उपकरण निर्माण किया जाता रहा।

फ्रांस के विभिन्न स्थलों के नाम पर उन स्थलों से प्राप्त हुए उपकरणों को नाम दिया गया है। बड़े फलकों युक्त उपकरणों को एब्बिवीलियन अथवा चीलियन तथा छोटे-छोटे फलकीकरण युक्त उपकरणों को अशूलियन कहा गया। प्रथम प्रकार के उपकरण की अपेक्षा दूसरे प्रकार के उपकरण अधिक सुडौल तथा निश्चित रूपरेखा के पाये जाते हैं जो उन्नत तकनीक की ओर संकेत करते हैं एवं ऐसे उपकरणों को प्रथम प्रकार के उपकरणों से बाद के माने जाते हैं। यूरोपीय उपकरण भारतीय उपकरणों से उन्नत गढ़न के तथा अधिक सुनिश्चित आकार-प्रकार के होते हैं सम्भवतः ऐसा पत्थर के प्रकार की भिन्नता के कारण है।

निम्न पुरापाषाण काल के उपकरण के निर्माण में प्रयुक्त प्रविधियों (पद्धतियों) के प्रकार—

### स्थिर हथौड़ा पद्धति (Anvil Hammer Technique)-

उपकरण निर्माण की यह पद्धति सबसे प्राचीन है। इस पद्धति में चूँकि हथौड़ा स्थिर रहता है अतः इसे स्थिर हथौड़ा पद्धति (Block-on-Block Technique) की संज्ञा दी गई है। भूमि पर पड़ा हुआ विशाल पत्थर ही स्थिर हथौड़े होता है। इस पत्थर पर उपकरण बनाये जाने वाले पत्थर को हाथ से पकड़ कर स्थिर पत्थर पर पटक कर तोड़ा जाता है। हाथ का पत्थर टूटने के कारण तीक्ष्णता युक्त उपकरण हो जाता है। इस प्रकार के उपकरण को एक या अनेक बार स्थिर हथौड़े पर पटक कर वांछित आकार या कार्यांग का प्राप्त कर लिया जाता रहा होगा। चूँकि आघात नियंत्रित न होने के कारण इस पद्धति से निर्मित उपकरण निश्चित आकार के तथा सुडौल नहीं होते।

### चलायमान हथौड़ा पद्धति (Moving Hammer , Direct percussion or Stone Hammer Technique)-

इस पद्धति में हथौड़ा चलायमान होता है इसी कारण इसे उक्त नाम दिया गया है। उपकरणों के अध्ययन से उनकी निर्माण प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। बड़े फलकीकरण निकालने हेतु पत्थर का हथौड़ा तथा छोटे फलक निकालने हेतु सींग, लकड़ी, हड्डी आदि का बना बेलनाकार हथौड़े का प्रयोग किया गया। यह माना जाता है कि जिस पत्थर को उपकरण बनाना होता है उसे एक हाथ में स्थिर कर दूसरे हाथ से उपयुक्त हथौड़े से उस पर बाहर से भीतर की ओर आघात

(Percussion) किया जाता है। चूँकि दोनों वस्तु हाथ में होते हैं अतः किया जाने वाला आघात नियंत्रित हो जाता है, परिणामस्वरूप निश्चित रूप-रेखा के उपकरण इस पद्धति से निर्मित किये जा सकते हैं। परन्तु फिर भी इस पद्धति पर पूर्ण भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि बार-बार आघात करने में होने वाली चूक से हाथ के आहत होने का भय बना रहता है। पत्थर को मिट्टी अथवा लकड़ी पर टिका कर हथौड़े से आघात करना सबसे उत्तम प्रक्रिया मानी जा सकती है क्योंकि यह अधिक नियंत्रित एवं कारगर होती है।

हथौड़े से सीधे क्रोड अथवा फलक का फलकीकरण करना प्रत्यक्ष संघात कहलाता है। चलायमान हथौड़ा पद्धति इसी के अन्तर्गत आता है। हथौड़े का चयन इच्छानुसार किया जा सकता है— पत्थर का हथौड़ा अथवा बेलनाकार (सींग, लकड़ी अथवा हड्डी का बना)। हथौड़ा चलाने की प्रक्रिया को अनेक प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—

**एकान्तर फलकीकरण पद्धति (Alternate Flaking Technique)-** उपकरण पर पाये जाने वाले एकान्तर फलकीकरण से स्पष्ट होता है कि उपकरण बनाये जाने वाले पत्थर की ऊपरी सतह पर हथौड़े से फलकीकरण करने के पश्चात् उस पत्थर की विपरीत सतह पर हथौड़े से ही प्रथम फलक के आगे की ओर फलकीकरण कर दूसरा फलक निकालने की प्रक्रिया अपनाते हुए अंग्रेजी के अक्षर 'C' जैसा लहरदार पार्श्व का निर्माण किया गया, इसी को एकान्तर फलकीकरण कहा जाता है।

**सोपानपद फलकीकरण पद्धति (Step Flaking Technique)-** उपकरणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि हथौड़े से प्रथम फलकीकरण कर दूसरा फलकीकरण प्रथम फलकीकरण के लगभग आधे भाग को प्रभावित करते हुए किया गया, यही प्रक्रिया आगे के लिये अपनाई गई, फलस्वरूप आगे के फलक पिछले फलक को काटते हुए क्रमानुसार दिखलाई देते हैं इसी को सोपानपद (सीढ़ीनुमा) फलकीकरण कहा जाता है, अन्तिम फलक पूर्ण फलक होगा।

**क्लैक्टोनियन पद्धति (Clactonian Technique)-** इस प्रकार के फलक इंग्लैंड के एसेक्स काउंटी के क्लैक्टोन-ऑन-सी (Clacton-on-Sea) से सर्वप्रथम प्राप्त किये गये थे अतः फलकीकरण प्रक्रिया को उक्त नाम दिया गया। वास्तव में यह हथौड़ा पद्धति का ही अंश है। क्योंकि किसी पत्थर से निकाला गया बड़ा फलक ही उपकरण होता है। इस बड़े फलक को चलायमान हथौड़े से एक ही बार आघात (Percussion) कर उपकरण रूपी फलक को निकाल लिया जाता है। मूल पत्थर (क्रोड) तथा निकाले गए फलक का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि मूल पत्थर के जिस स्थान पर हथौड़े से आघात किया जाता है उस आघात स्थल के सम्पर्क बिन्दु पर अवनत शंकु (Negative Bulb of Percussion or Conchoidal Flake Scar) तथा निकाले गए फलक के आघात स्थल पर उन्नत शंकु (Prominent Bulb of Percussion) जैसे चिह्न दिखलाई देंगे। शंकु का उभार मूल पत्थर का प्रकार तथा आकार, हथौड़े का प्रकार, आघात शक्ति तथा आघात दिशा पर निर्भर करता है। तीव्र आघात से शंकु का उभार अधिक अर्थात् तीक्ष्ण शंकु तथा हल्के प्रहार से विस्तृत शंकु अर्थात् कम उभार का बनेगा। फलक पर शंकु से नीचे का भाग फैलता हुआ तरंगित होगा, जिस प्रकार जल पर पत्थर फेंकने से तरंगे उत्पन्न होती हैं ठीक उसी प्रकार हथौड़े के प्रहार का बल नीचे की ओर फैलता हुआ तरंगित सपाट तल बना देता है। प्रमुख पत्थर से निकाले गये बड़े फलक को जब उपकरण बनाया जाता है तब ऐसे उपकरण को फलक उपकरण, थ्रॉसॉम ज्ववसेद्ध कहा जाता है। इस प्रकार के उपकरणों की एक सतह पर अनेक फलकीकरण के चिह्न होते हैं तथा दूसरी सतह पर उभार युक्त शंकु सहित आघात स्थल एवं शेष सपाट सतह होती है। यह उपकरण पतला होने के कारण हल्का होता है तथा पार्श्व से देखने पर उसकी एक सतह उत्तल तथा दूसरी सतह समतल दिखलाई देती है।

**लेवालेवा पद्धति (Levalloisian Technique)-** पेरिस के लेवेलाइस पेरट स्थल से सर्वप्रथम प्राप्त होने के कारण इस उपकरण का उक्त नामकरण किया गया है। उपकरणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम किसी बड़े पत्थर से उपकरण निर्माण हेतु लगभग वृत्ताकार रूप में अनेक फलक निकालकर उपकरण का स्वरूप प्रदान किया गया। उसके पश्चात् वांछित उपकरण की बाहरी परिधि के अनुरूप हथौड़े की सहायता से आघात स्थल (जहाँ हथौड़े से प्रहार कर फलकित उपकरण को मूल पत्थर से पृथक किया जा सके) के लिये एक खाँचा निर्मित किया गया। इस पद्धति में आघात स्थल पर 90 अंश पर आघात किया जाता है अतः उपकरण निर्माण में आघात करने के इस सिद्धांत को अपनाते हुए हथौड़े से आघात कर मुख्य फलक निकालने की प्रक्रिया अपनाई गई। यही मुख्य फलक उपकरण कहलाया तथा बचा हुआ मूल पत्थर कच्छप कोर। अवशिष्ट क्रोड पर निकाले गए मूल फलक की परिधि के अनुरूप बाहर की ओर फलक के चिह्न दिखलाई देते हैं तथा फलक चिह्नों से घिरे बीच के भाग में मूल पत्थर का अन्दरूनी अवतल भाग दिखलाई देता है, इसका स्वरूप कच्छप के समान दिखलाई देता है इसी कारण इसे कच्छप कोर कहा गया है। इस पद्धति से निर्मित उपकरण फ्रांस के लेवेलोयस पेरट (पेरिस के समीप) स्थल से प्राप्त होते हैं अतः इन उपकरणों को लेवालेवा उपकरण कहा जाता है।

**द्विध्रवीय पद्धति (Bipolar Technique)-** एक विशिष्ट प्रकार के उपकरण जो द्विध्रवीय पद्धति से निर्मित किये गए, ऐसे उपकरण केवल चीन से ही प्राप्त होते हैं, ऐसा माना जाता है कि चीन में निवास करने वाले पेंकिंग मानव द्वारा ऐसे उपकरणों का प्रयोग किया जाता रहा। इस प्रकार के उपकरणों के पृष्ठ तल के दोनों छोरों पर उन्नत शंकु दिखलाई पड़ते हैं इसी को दो ध्रुव कहते हैं। उपकरण निर्माण पद्धति में ऐसा आभास होता है कि एक स्थिर पत्थर पर फलक उपकरण निकाले जाने

वाले पत्थर को स्थिर कर उसपर पत्थर के हथौड़े से तीव्रता से आघात किया जाता है। आघात स्थल पर तथा प्रतिक्रिया के फलस्वरूप विपरीत दिशा में अर्थात् उपकरण वाले पत्थर तथा स्थिर पत्थर के सम्पर्क बिन्दु पर उन्नत शंकु बन जाते हैं। इस प्रकार जो फलक निकलता है उसके सपाट तल के ऊपर तथा नीचे के छोरों पर उन्नत शंकु के चिर्चे होते हैं।

### गुटिकाश्म के उपकरण (Pebble Tools)–

नदी जल के प्रवाह में आकर लुढ़कने के कारण अनेक पत्थर चिकने एवं सुडौल हो जाते हैं इन्हीं को गुटिकाश्म कहते हैं, इनमें तीखे कोने नहीं होते। ये गुटिकाश्म आमतौर पर चपटे अथवा मोटे होते हैं तथा अनेक आकार के पाए जाते हैं जिनमें आयताकार, अण्डाकार, दीर्घ वृत्ताकार प्रमुख हैं।

**कुट्टव्यक तथा कुट्टन्तिक (Chopper and Chopping)-** नदी तट पर पाये जाने वाले गुटिकाश्म के एक सतह को फलकीकृत कर कार्याग का निर्माण करने पर कुट्टव्यक तथा जिनके दोनों प्रमुख सतहों को फलकीकृत करके कार्याग का निर्माण किया जाता है, को कुट्टन्तिक कहा जाता है। ये दोनों ही क्रोड (प्रमुख पत्थर) उपकरण होते हैं इन उपकरणों के एक छोर पर कार्याग तथा विपरीत छोर गोलाकार बट युक्त होता है। इसी प्रकार प्रमुख पत्थर को फलकीकृत कर निर्मित उपकरण को क्रोड उपकरण की श्रेणी में रखा जाता है। इन उपकरणों पर शंकु नहीं पाया जाता तथा आकार में ये अपेक्षाकृत बड़े एवं मोटे होने के कारण भारी होते हैं।

गुटिकाश्म खुरची : पिटरसन ने सोहन घाटी से प्राप्त गुटिकाश्म उपकरणों का नामकरण उनकी निर्माण पद्धति तथा आकार के आधार पर निम्नलिखित तीन प्रकारों में विभाजन किया है –

1. **समतलीय (Flat Bases) :** इस प्रकार के गुटिकाश्म का एक तल समतल होता है जो कि प्राकृतिक अथवा कृत्रिम हो सकता है। उपकरण निर्माण में समतल सतह से अनियमित रूप से फलकीकरण कर उत्तल अथवा सीधा कार्याग निर्मित किया जाता है। कभी-कभी धार को तीक्ष्ण करने हेतु पुनर्गठन भी किया जाता है। गुटिकाश्म के आकार के आधार पर इनका आकार अण्डाकार, नौकाकार अथवा गोलाकार होता है।

इस प्रकार के उपकरणों को तीन उपप्रकारों में विभक्त किया गया है–

(अ) **अन्तस्थ समतल (Terminal Flat Base):** आमतौर पर इस प्रकार के उपकरण अण्डाकार प्राप्त होते हैं जिनका एक छोर तिरछा होता है तथा इनका कार्याग उत्तल अथवा सीधा होता है।

(ब) **एक पार्श्वीय समतल (Unilateral Flat Base):** इस प्रकार का उपकरण लम्बाई की दिशा में टूटा होता है। उपकरण के एक पार्श्व से अनियमित फलकीकरण कर फलक निकाले गए होते हैं।

(स) **द्विपार्श्वीय समतल (Bilateral Flat Base):** इस प्रकार के उपकरणों के दोनों पार्श्वों से फलक निकाले गए होते हैं जिसके फलस्वरूप नोक का निर्माण हो जाता है। इनका आकार नौका के समान होता है।

2. **आक्षिक (Oblates) :** ये उपकरण समतल, पतले एवं परिधि पर चपटे होते हैं। दो तश्तरियों को उल्टा कर एक-दूसरे पर रखने से जो आकार दिखलाई देता है उसी से इस उपकरण का आकार मेल खाता है। इस प्रकार के उपकरणों में समतल वाले भाग से न्यून कोण पर फलकीकरण किया हुआ होता है। इन उपकरणों को दो उपप्रकारों में विभक्त किया जा सकता है –

(अ) **उत्तल कार्याग आक्षिक (Convex Oblate):** आकार में ये प्रायः अण्डाकार अथवा गोल होते हैं। इनके बाह्य सतह से फलकीकरण इस प्रकार से किया हुआ होता है कि उपकरणों का कार्याग उत्तल बन जाता है। उपकरणों में कभी-कभी सीधे अथवा अवतल (संस्कृति में प्राप्त) कार्याग भी प्राप्त होते हैं।

(ब) **शूलाग्र अथवा नोकाग्र आक्षिक (Pointed Oblate) :** इस प्रकार के उपकरणों का एक छोर नुकीला होता है। वास्तव में गुटिकाश्म के इस उपकरण में एक छोर के एक ही तल के दानों पार्श्वों से एक ही दिशा में फलकीकरण कर नोक प्राप्त किया गया होता है। इसका स्वरूप अशूलियन हस्त-कुठर के समान होता है अन्तर केवल यह है कि अशूलियन हस्त-कुठर में दोनों तल से फलकीकरण किया गया होता है।

3. **केन्द्रक (Nucleates) :** ये उपकरण अण्डाकार अथवा आक्षिक होते हैं। उपकरणों पर फलकीकरण उभय पक्षीय होता है अर्थात् दोनों तलों अग्रभाग (Ventral) तथा पृष्ठ भाग (Dorsal) से फलकीकरण किया हुआ होता है। दोनों तलों से फलकीकरण करने के कारण इन्हें उभयपक्षीय उपकरण भी कहा जा सकता है। फलकीकरण प्रक्रिया के अन्तर्गत सर्वप्रथम एक तल पर फलकीकरण करने के पश्चात् विपरीत तल से पूर्व में निकाले गए फलक चिर्चे को आघात-स्थल मानकर फलकीकरण किया जाता है फलस्वरूप लहरदार पार्श्व प्राप्त होता है। प्रारम्भिक उपकरणों में बड़े फलकीकरण के कारण पार्श्व अधिक लहरदार दिखलाई देता है बाद के उपकरणों में कम। अनेक उपकरणों पर पुनर्गठन के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। इन उपकरणों को दो उपप्रकारों में विभक्त किया गया है –

(अ) **एक पार्श्वीय केन्द्रक (Unilateral Nucleates):** इस प्रकार के उपकरणों का कार्याग एक भुजा पर होता है।

(ब) परिधीय केन्द्रक (Peripheral Nucleates) : इस प्रकार के उपकरण की सम्पूर्ण परिधि पर फलकीकरण कर कार्याग निर्मित किया गया होता है। पुनर्गठन कर कार्याग को प्रभावशाली बनाने का प्रयास भी दृष्टिगोचर होता है। बीच में प्राकृतिक परत (बाह्यक, कोरटेक्स) विद्यमान रहता है अतः वे कच्छप क्रोड सदृश दिखलाई देते हैं।

**पाषाण प्रकार:** मानव आस-पास में पाये जाने वाले पत्थरों के भौतिक गुणों को अपने प्रयोगों के माध्यम से समझने का प्रयास निरन्तर करता रहा। वह यह समझ गया कि बारीक कण वाले पत्थर से निर्मित उपकरण अधिक कारगर होंगे अतः उसने क्वार्टजाइट पत्थर का प्रयोग उपकरण निर्माण में किया गया है। यह पत्थर बारीक कणों का होता है अतः उपकरणों के कार्याग तीक्ष्ण प्राप्त होते हैं।

**पुरास्थल:** भारत में आदि मानव का अस्तित्व लगभग पाँच लाख वर्ष पूर्व से माना जाता है, उसकी गतिविधियों का विस्तार कुछ मैदानी क्षेत्रों को छोड़ देश के लगभग सभी नदी घाटियों में पाया जाता है। जल मानव की प्रथम एवं प्रमुख आवश्यकता है जो सर्वत्र सुलभ नहीं होता अतः वह मुख्यरूप से जल-स्रोतों अर्थात् नदी, तालाब, झरना आदि के समीप ही बसता रहा। प्रमुख नदी घाटियों में सोहन, बेलन, महानदी, नर्मदा, तापी, प्रवरा, कृष्णा, गोदावरी, कावेरी आदि की गणना की जाती है। यहाँ घाटी से तात्पर्य प्रमुख नदी में मिलने वाली सहायक नदियाँ, नाले आदि से घिरे हुए भू-भाग को माना गया है। अतः प्रत्येक नदी घाटी का भू-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। इन घाटियों में उपकरण निर्माण हेतु जहाँ भी उपयुक्त पाषाण उपलब्ध रहा वहाँ प्राचीन मानव अपनी गतिविधियाँ संचालित करता रहा।

**सांस्कृतिक अवस्था:** निम्न-पुरापाषाण कालीन संस्कृति की सांस्कृतिक अवस्था से सम्बन्धित क्रिया-कलापों के सटीक प्रमाण प्राप्त नहीं होते। अपने लम्बे जीवन काल में उसके द्वारा उपयोग में लाए गए उपकरणों में केवल पाषाण उपकरण ही प्रकाश में आते हैं, जबकि वह अपने निजी तथा दैनिक कार्य का सम्पादन पाषाण के अतिरिक्त अस्थियों एवं लकड़ी के उपकरणों की सहायता से भी करता रहा होगा। नश्वर प्रकृति होने के कारण आदि मानव द्वारा उपयोग में लाई गई लकड़ी के उपकरणों के प्रमाण उलब्ध नहीं होते। विभिन्न नदियों के तटों के आस-पास, भूमि पर बिखरे पड़े अथवा स्तरो में संचित पाषाण उपकरण ही प्रमुख रूप से उसके जीवन की अनेक गतिविधियों अथवा क्रिया-कलापों की ओर संकेत करते हैं। छीलने, काटने एवं बेधने वाले पाषाण उपकरणों से स्पष्ट होता है कि वह लकड़ी आदि को छीलने के लिए, अस्थि अथवा लकड़ी को काटने के लिए, जीव-जन्तुओं को मारने अथवा अपनी सुरक्षा के लिए, कन्द-मूल-फल आदि को खोदकर निकालने के लिए उनका उपयोग करता रहा होगा।

आवास की समस्या मानव के सम्मुख हर समय विद्यमान रही है। वृक्षों पर अथवा कन्दराओं में रहना उसके लिये पूर्ण सुरक्षित नहीं माना जा सकता क्यों कि जीव-जन्तु की पसन्द भी उक्त स्थान रहे हैं। मानव में सीखने की प्रवृत्ति पाई जाती है अतः वह चतुर्दिक् विद्यमान जीव-जन्तुओं के क्रिया-कलापों एवं स्वभाव को समझ कर उसका अनुपालन अपने आवास निर्माण में किया होगा। इसी तारतम्य में यह माना जा सकता है कि वह मैदानी इलाकों में अनुकूल स्थितियों को देखकर लकड़ी के अस्थाई भवन निर्मित कर उनमें कुछ-कुछ समय तक रहता रहा हो। इसी को घुमक्कड़ स्वभाव माना जा सकता है। यही कारण है कि अल्पकालिक प्रवास होने से स्थाई निवास के प्रमाण टीले के रूप में उपलब्ध नहीं होते। उसके जीवन में प्राकृतिक आग के महत्व को भी नकारा नहीं जा सकता। एक ओर आग के उपयोग से हानि पहुँचाने वाले जीव-जन्तुओं को दूर रख स्वयं की सुरक्षा में सहायता मिलती रही होगी तो दूसरी ओर आग में भुने हुए जीव-जन्तुओं स्वाद भी उसने लिया होगा। अतः इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्राकृतिक आग का उपयोग उसने अपने जीवन में न किया हो।

नगर की परिकल्पना तो उस प्रारम्भिक अवस्था में थी नहीं, सर्वत्र जंगल, पहाड़ एवं मैदान ही उसकी कर्मस्थली रहे हैं। जंगलों से ही उसकी आवश्यकताओं की आपूर्ति सम्भव होती रही जीव का पोषण जीव पर ही आधारित होता है अतः जंगल को सभी जीवों के साथ-साथ मानव के लिये भी जीविका का आधार माना जा सकता है। सभी जीवों के निवास के कारण जंगली जीवन मानव की असुरक्षा का प्रमुख कारण रहा होगा। थोड़ी सी भी असावधानी उसके जीवन के लिये घातक रही होगी। अतः एकल जीवन के स्थान पर सामूहिक जीवन पर वे निर्भर रहते रहे होंगे।

पाषाण उपकरणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि मानव का खान-पान पूर्णरूपेण प्राकृतिक सम्पदा पर ही निर्भर रहा है। कन्द-मूल-फल तथा जीव-जन्तुओं का आखेट कर कच्चा मांस भक्षण कर उदर पूर्ति करना ही उसकी दिनचर्या का मुख्य स्वरूप प्रकाश में आता है।

## व्याख्यान-2

### **2. मध्य-पुरापाषाण काल (50000 ई.पू. लगभग, Middle Palaeolithic Period) :**

**परिभाषा :** वह काल जो निम्न-पुरापाषाण काल के पश्चात् आया मध्य-पुरापाषाण काल के नाम से जाना जाता है। इस काल से सम्बन्धित पाषाण उपकरण स्तरीकरण में निम्न-पुरापाषाण काल के ऊपर के स्तर में पाए जाते हैं। नेवासा पुरास्थल में उत्खनन के समय स्तरीकरण के सीमेंटेड ग्रेवल के जमाव से जंगली जानवर (*Bos Namadicus Falconer*) के कपाल में मध्य-पुरापाषाण काल का हस्त-कुठार धँसा हुआ प्राप्त हुआ। प्रायः यह माना जाता है कि द्वितीय उच्चयन काल (**Second Aggradational Phase**) से ये सम्बन्धित हैं, प्रारम्भ में इस काल के उपकरणों को सीरीज़-दो के अन्तर्गत गणना की गई।

इस काल के आगमन से ही निम्न-पुरापाषाण काल के गुटिकाश्म उपकरण, हस्तकुठार तथा विदलक निर्माण जैसे उद्योगों का समापन हो जाता है। इस काल के उपकरण फलक प्रधान हैं जिनमें खुरचरियों का आधिक्य दिखलाई देता है। अतः खुरचरियों को ही इस काल का प्रमुख उपकरण माना जा सकता है। फलकों पर शंकु दिखलाई देता है यही नहीं इस काल के उपकरणों की यह भी विशिष्टता है कि उपकरण निर्माण में चिकने पत्थरों का प्रयोग किया गया है, फलस्वरूप इनके कार्यांग अधिक प्रभावशाली पाए जाते हैं और आकार में ये निम्न-पुरापाषाण काल के उपकरणों की अपेक्षा छोटे एवं पतले होते हैं। उपकरण निर्माण में विकसित प्रविधियों का उपयोग किया गया है। तीक्ष्ण कार्यांग होने के कारण इन छोटे उपकरणों का प्रयोग बहुतायत से दिखलाई देता है। कुछ विद्वान उपकरणों के उक्त बदलावों का प्रमुख कारण जलवायु को मानते हैं। जलवायु परिवर्तन से मानव के रहन-सहन तथा आवश्यकताओं में थोड़ा अन्तर तो अवश्य आवेगा, परन्तु उसकी मूल आवश्यकताएँ तो यथावत ही बनी रहेंगी। अतः उपकरणों का अन्तर मानव के बौद्धिक विकास का द्योतक है ना कि जलवायु में परिवर्तन का। भिन्न जलवायु में निर्मित किये जाने वाले उपकरणों का विकास रुक नहीं जाता। विकास करना ही मानव की मूल प्रवृत्ति है। अतिनूतन काल में पाए जाने वाली संस्कृतियों में जो विकास दिखलाई देता है वह इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

इस काल में बड़े उपकरणों के प्रयोग को पूर्णरूपेण त्यागा नहीं गया होगा क्योंकि मोटी लकड़ियों को काटने तथा बड़े जीवों के आखेट अथवा उन्हें काटने के लिए बड़े उपकरण ही उपयोगी होते हैं, अतः उनका भी सीमित प्रयोग इस काल में होता रहा होगा। इस काल के उपकरणों की उत्पत्ति निम्न-पुरापाषाण काल के उपकरणों से मानी जा सकती है क्योंकि परम्परागत हथौड़ा पद्धति का प्रयोग इस काल में भी होता रहा।

**उपकरण प्रकार तथा उपयोगिता :** इस काल के उपकरणों में फलक उपकरण तथा खुरचनियाँ प्रमुखरूप से प्राप्त होती हैं। प्रमुख उपकरण प्रकारों में छिद्रक, बेधक, बेधक युक्त खुरचनी, खुरचनियों के अनेक प्रकार, छोटे आकार के कुट्टव्यक आदि हैं।

**उपकरण निर्माण प्रविधि :** उपकरण निर्माण पद्धतियों में प्रमुखरूप से हथौड़ा पद्धति तथा निपीडन पद्धतियों की गणना की जा सकती है। उपकरणों के तीक्ष्ण कार्यांग के निर्माण में पुनर्गठन का प्रयोग भी दिखलाई देता है।

**हथौड़ा पद्धति :** कोई भी काल क्यों न हो पाषाण उपकरण निर्माण में हथौड़ा पद्धति का प्रयोग होगा ही। अतः निम्न पुरापाषाण काल के समान ही इस काल के उपकरणों के निर्माण में भी हथौड़ा पद्धति का प्रयोग स्पष्ट दिखलाई देता है। अन्तर केवल हथौड़ा के प्रकारों का हो सकता है। उपकरणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मानव ने भिन्न-भिन्न प्रकार के फलकों को निकालने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों के बने छोटे-बड़े हथौड़ों का प्रयोग किया। उपकरण निर्माण में कमसे कम तीन प्रकार के हथौड़ों के प्रयोग का अनुमान लगाया जा सकता है— प्रमुख फलक को मूल पत्थर से निकालने के लिए बड़े हथौड़ा, फलक पर आकार देने के उद्देश्य से मध्यम आकार के हथौड़े का तथा छोटे फलकों को निकालने के लिए पतले हथौड़े का प्रयोग किया गया होगा।

**निपीडन पद्धति :** इस काल में मानव ने बौद्धिक विकास के साथ-साथ दबाव डालकर चिकने पत्थरों को छीलने का उपाय खोज निकाला। इसी को निपीडन पद्धति के नाम से जाना जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत हिरण के कठोर सींग से बने एक छेनी जैसे उपकरण को डंडे के एक छोर पर स्थापित किया जाता है तथा डंडे के दूसरे छोर पर दबाव डालने हेतु लकड़ी की एक आड़ी पट्टी लगाई जाती है। जिस पत्थर से फलकीकरण कर उपकरण निर्माण करना होता है उसकी बाहरी सतह को हथौड़ा पद्धति से फलकीकृत करने के पश्चात् सपाट कार्य-स्थल बनाया जाता है। तदुपरांत पत्थर को भूमि में अथवा लकड़ी के लट्टे पर खँचा बनाकर उसमें स्थिर किया जाता है, उपकरण के छेनी वाले छोर को उस मूल पत्थर के सपाट कार्य-स्थल पर लम्बवत् रखकर आड़ी पट्टी पर सुविधानुसार दबाव डालते हुए फलकीकरण किया जाता है। वांछित आकार प्राप्त होने के पश्चात् इस फलकीकृत सतह को मूल पत्थर से पृथक करने हेतु सपाट कार्य-स्थल पर हथौड़े से प्रहार कर फलक उपकरण प्राप्त कर लिया जाता है।

**पुनर्गठन :** निम्न-पुरापाषाण काल में इस पद्धति का प्रयोग नहीं के बराबर देखा जाता है। परन्तु मध्य-पुरापाषाण काल तक इसका उपयोग आम हो गया। इस पद्धति का प्रयोग तीन प्रकार के कार्यों में किया जाता है— 1. कार्यांग को तीक्ष्ण अथवा प्रभावशाली बनाने हेतु, 2. तीक्ष्णता को मोटा (भुतड़ा) करने हेतु तथा 3. उपकरण को वांछित आकार देने हेतु। पुनर्गठन कार्य में बेलनाकार हथौड़े को अधिक उपयुक्त माना गया है। बेलनाकार हथौड़े का आघात—तल कम होने के कारण वांछित आकार—प्रकार के फलकीकरण करना सरल होता है।

**पाषाण प्रकार :** मानव ने निम्न-पुरापाषाण काल में बहुप्रचलित क्वर्टजाइट पत्थर के स्थान पर महीन कण वाले पत्थरों के उपयोगी भौतिक गुणों को समझकर उनके प्रयोग पर अधिक ध्यान दिया। पत्थरों को अन्यत्र से आयात नहीं किया गया बल्कि स्थानीय पत्थरों का ही प्रयोग किया गया। फलस्वरूप इस काल में उपकरण निर्माण के लिए चर्ट, जैस्पर, चाल्सिडोनी, पिलंट, अगेट आदि पत्थरों का प्रयोग दिखलाई देता है। ऐसे पत्थरों को चिकने पत्थर भी कहा जाता है। इनकी यह विशिष्टता होती है कि इन्हें इच्छानुसार गढ़कर आकार दिया जा सकता है।

**पुरास्थल:** उपलब्ध होने वाले पाषाण उपकरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मध्य-पुरापाषाण काल में भी मानव की गतिविधियों का विस्तार कुछ मैदानी क्षेत्रों को छोड़ लगभग सभी नदी घाटियों में पाया जाता है। यह मानना कि मैदानी क्षेत्र जहाँ पाषाण उपलब्ध नहीं रहा, मानव वहाँ नहीं बसा, त्रुटिपूर्ण हो सकता है, ऐसे स्थलों पर भी मानव की गतिविधियाँ संचालित रही होंगी। मैदानी क्षेत्रों में मानव के दैनिक कार्यों में उपयोग में आने वाले उपकरण भिन्न प्रकार के अर्थात् लकड़ी अथवा अस्थि के रहे होंगे, प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता, इस दिशा में अभी शोध कार्य की आवश्यकता है।

**सांस्कृतिक अवस्था :** निम्न-पुरापाषाण काल के समान ही इस काल में भी मानव मुख्यरूप से प्राकृतिक सम्पदा पर ही आधारित रह कर जीवन-यापन करता रहा होगा। उसकी आवश्यकताओं अथवा दिनचर्या में भी कोई विशेष अन्तर का आभास नहीं होता है। आवासीय समस्याएँ भी यथावत् रही होंगी। इस काल तक उसने अपने जीवन में प्राकृतिक आग के महत्व को अवश्य समझ लिया होगा परन्तु आग की उत्पत्ति में वह कितना सफल रहा नहीं कहा जा सकता। पाषाण प्रकारों में भेद करलेना, कार्यांग तथा आकार देने में पुनर्गठन का सहारा लेना मानव के बौद्धिक विकास को अवश्य दर्शाते हैं।

### व्याख्यान-3

**उच्च-पुरा पाषाण कालीन संस्कृति (30000 से 10000 ई.पू. लगभग, Upper Palaeolithic Period) :**

**परिभाषा :** वह काल जो मध्य-पुरापाषाण काल के पश्चात् आया उच्च-पुरापाषाण काल के नाम से जाना जाता है। इस काल से सम्बन्धित पाषाण उपकरण स्तरीकरण में मध्य-पुरापाषाण काल के ऊपर के स्तर में पाए जाते हैं। इसे ब्लेड तथा ब्यूरिन संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है जिसे प्रारम्भ में सीरीज़— चार के अनतर्गत वर्गीकृत किया गया था। यूरोप में यह काल बहुत स्पष्ट है परन्तु भारत में वैसी स्थिति नहीं है क्योंकि यहाँ पर उन्नत प्रकार के अस्थि उपकरण तक्षणियों के साथ यदाकदा ही प्राप्त होते हैं साथ ही अभी तक इस काल से सम्बन्धित पुरास्थल बहुत कम प्रतिवेदित हैं।

**उपकरण प्रकार तथा उपयोगिता :** इस काल के उपकरण आमतौर पर तक्षणी के बने हुए प्राप्त होते हैं जिन्हें आकार के आधार पर निम्नलिखित प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है—

**तक्षणी :** इस काल की तक्षणियाँ लगभग दो इंच माप की प्राप्त होती हैं ;यह माप पाठकों को केवल समझाने के लिए दिया गया है। तक्षणी (पूर्ण सुरक्षित अवस्था में) उसे माना जाता है जिसकी लम्बाई, चौड़ाई की दोगुनी होती है। परन्तु आज तक्षणियाँ टूटी-फूटी अवस्था में भी प्राप्त होती हैं जिन्हें उनकी बनावट के आधार पर तक्षणी का भाग मानना गलत न होगा। तक्षणियों के पृष्ठ तल ;सपाट तलद्ध के छोर अर्थात् आघात स्थल पर उन्नत शंकु दिखलाई देता है जो आघात करने की प्रक्रिया को प्रमाणित करता है, साथ ही ये पृष्ठ तल (सपाट तल) की ओर थोड़ी घुमावदार होती हैं ;जो पत्थर में आघात बल के तरंगित विस्तार के कारण बनते हैं। अग्र-भाग पर पार्श्व की ओर नत, दो समानान्तर फलकीकरण के चिह्न, उपकरण के लम्बाई के अनुरूप होते हैं जो उपकरण को त्रिकोणीय आकृति (अनुप्रस्थकाट पर) तथा उपकरण के दोनों समानान्तर पार्श्वों पर तीक्ष्ण कार्यांग प्रदान करते हैं।

पतली होने के कारण तक्षणियाँ अत्यन्त कमजोर होती हैं, अतः इनका उपयोग छोटी चीजों को चाकू की तरह काटने, खुरचने, तराशने तथा छीलने में होता रहा होगा।

**छेनी** : उपकरणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि तक्षणी के शंकु वाले छोर के विपरीत छोर पर चौड़ाई के अनुरूप तीक्ष्ण कार्यांग बनाकर छेनी का निर्माण किया जाता रहा है। इसका प्रयोग छोटी वस्तुओं को काटने अथवा गहराई तक तराशने के लिए किया जाता रहा होगा।

**खुरचनी**: आमतौर पर सभी तक्षणियाँ पार्श्व पर खुरचने योग्य तीक्ष्ण होती हैं। परन्तु तक्षणियों का दूसरा पार्श्व भी धारदार होने के कारण छीलने जैसे कार्यों में उस धार से आहत होने की सम्भावना बनी रहती है, अतः ऐसे पकड़ वाले स्थानों के पार्श्वों को पुनर्गठन की पद्धति से भुथड़ा (धार को मन्द करना) कर दिया जाता है। इन उपकरणों का उपयोग मुख्यरूप से खुरचने, छीलने तथा काटने के कार्यों में होता रहा होगा।

**बेधक अथवा छिद्रक** : नाम से ही विदित है कि इस प्रकार के उपकरण का एक छोर नुकीला होता है जो बेधने के काम में आता है। इस प्रकार के उपकरण का निर्माण भी तक्षणी के एक छोर को पुनर्गठन करके किया जाता है फलस्वरूप नोक के दोनों ओर छोट-छोटे फलकीकरण के चिह्न स्पष्ट दिखलाई देते हैं। इन उपकरणों का उपयोग छिद्र करने, छोटे जीवों का आखेट करने जैसे कार्यों में किया जाता रहा होगा।

**फलकित क्रोड** : जिन क्रोडों से फलक उपकरण निकाले गए होते हैं उन्हें फलकित क्रोड कहा जाता है। इनका अनुप्रस्थ-काट दीर्घ वृत्ताकार अथवा वृत्ताकार होता है। आमतौर पर आघात-स्थल बनाए जाने के कारण इनका एक छोर चपटा होता है तथा भीतर की ओर फलकीकरण का प्रभाव होने के कारण दूसरा छोर सँकरा होता है। कुछ ऐसे क्रोड भी होते हैं जिनका सँकरा छोर नुकीला होता है, ऐसे क्रोडों का प्रयोग भी बेधने अथवा आघात करने जैसे कार्यों में होता रहा होगा।

**अस्थि उपकरण** : आन्ध्र प्रदेश के चिन्तामनुगावी शैलाश्रयों से अनेक अस्थि अथवा सींगों से बने उपकरण प्राप्त हुए हैं जिनमें खुरची, छेनी, स्कन्धित बेधक, छिद्रक तथा कुछ धारदार उपकरण हैं।

**उपकरण निर्माण प्रविधि** : उपकरण निर्माण पद्धतियों में प्रमुखरूप से हथौड़ा पद्धति, छेनी-हथौड़ा तथा निपीडन पद्धति का प्रयोग हुआ है। हथौड़ा पद्धति का प्रयोग क्रोड (मूल पत्थर) को फलकीकृत करके साफ करने में तथा बड़े उपकरणों के निर्माण में पूर्व के कालों की भाँति किया गया। मध्य-पुरापाषाण काल में आरम्भ हुई निपीडन पद्धति का अनुसरण इस काल में व्यापक रूप से दिखलाई देता है।

**छेनी-हथौड़ा पद्धति ; अप्रत्यक्ष संघात पद्धति** : इस पद्धति में चूँकि क्रोड पर सीधे हथौड़े से प्रहार नहीं किया जाता बल्कि दोनों के बीच छेनी रखी जाती है और छेनी पर प्रहार किया जाता है, इसी कारण इसे अप्रत्यक्ष संघात पद्धति भी कहा जाता है। इस पद्धति के अन्तर्गत सर्वप्रथम लगभग दो-तीन इंच माप के छोटे क्रोड (मूल पत्थर) की ऊपरी परत को फलकीकरण करके साफ किया जाता है जिससे भीतर का अच्छा पत्थर उपकरण निर्माण के लिए प्राप्त किया जा सके। द्वितीय चरण में क्रोड पर एक समतल आघात स्थल का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार बेलनाकार स्वरूप का क्रोड तैयार हो जाता है। क्रोड का बेलनाकार स्वरूप ही इस काल की प्रमुख विशिष्टता है (लम्बी तक्षणियों के निर्माण हेतु बेलनाकार आकृति का क्रोड होना आवश्यक है)। तृतीय चरण में इस क्रोड को स्थिरता प्रदान करने के लिए भूमि में अथवा लकड़ी के बड़े टुकड़े में उसी के लगभग माप का खौँचा बनाकर उसमें क्रोड को इस प्रकार स्थापित किया जाता है कि वह हिले नहीं तथा उसका सही ढंग से फलकीकरण किया जा सके। सींग, हड्डी अथवा इसी प्रकार के कठोर पदार्थ से निर्मित छेनी को आघात स्थल पर खड़ा कर हथौड़े से उसपर प्रहार किया जाता है। इस प्रकार के प्रहार से वांछित तक्षणी (ब्लेड) उपकरण निकाल लिए जाते हैं।

**पाषाण प्रकार** : मध्य-पुरापाषाण काल की भाँति इस काल में भी चर्ट, जैस्पर, अगेट, चाल्सिडोनी, पिलंट आदि बारीक कण वाले चिकने पत्थरों का उपयोग उपकरण निर्माण में किया गया है। पाषाण प्रकारों की पहचान मध्य-पुरापाषाण काल से निरन्तर इस काल में चला आया है। कहीं-कहीं पर स्थानीय पत्थरों का प्रयोग भी दिखलाई देता है।

**पुरास्थल** : आन्ध्र प्रदेश के रेनीगुंटा, येरगोण्डपालेम, बेमुला तथा कर्नूल की गुहाओं से, कर्नाटक के गुलबर्गा जिले में स्थित शोरापुर दोआब से, महाराष्ट्र के ईनामगाँव, पटणे तथा भदणे से, मध्य प्रदेश के भीमबैठका, बबुरी, रामपुर, बाघोर तथा गौर नदी घाटी से, गुजरात के विसदी से, राजस्थान के बूढा पुष्कर से, उत्तर प्रदेश के बेलन एवं सोन घाटी से तथा बिहार के सिंहभूम से इस काल के उपकरण प्राप्त होते हैं। उपकरण आमतौर पर नदियों के जमावों, भूतात्त्विक स्तरों, भूसतह अथवा शैलाश्रयों से पाए गए हैं।

**सांस्कृतिक अवस्था** : इस काल के मानव को होमोसेपियन (प्रज्ञ मानव) के नाम से जाना जाता है। उपकरणों के आकार तथा प्रकार को देखते हुए विद्वान यह मानते हैं कि वातावरण में परिवर्तन के कारण मानव की आवश्यकताओं अथवा रहन-सहन में परिवर्तन हुआ। इस काल में उसने भोजन के लिए कन्द, मूल, फल तथा छोटे जीवों को प्राथमिकता दी। अतः बड़े उपकरणों के बजाय छोटे उपकरणों पर ही बल दिया गया। परन्तु यह बात सही प्रतीत नहीं होती। मानव की आवश्यकताओं में केवल

भोजन प्राप्त करना ही नहीं बल्कि आवास के लिए लकड़ी के भवनों तथा सुरक्षा से सम्बन्धित उपायों को भी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। सुरक्षा के दृष्टिकोण से खतरनाक बड़े जीवों को दूर भगाने अथवा मारने हेतु बड़े उपकरण ही करगर होते हैं, छोटे उपकरण नहीं। इसी प्रकार लकड़ी अथवा हड्डी काटने हेतु भी बड़े उपकरण ही उपयोगी होते हैं। ऐसी अवस्था में तक्षणी तथा छेनी जैसे उपकरणों के अतिरिक्त बड़े उपकरणों के प्रयोग को नकारा नहीं जा सकता। आवश्यकता व्यापक खोज की है जिससे मानव के रहन-सहन की सम्पूर्ण रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके।

उच्च-पुरा पाषाण काल के समय अग्नि की उपयोगिता की जानकारी होते ही मानव के जीवन में मूलभूत परिवर्तन होने आरम्भ हुए, स्थिर निवास के लिए शैलाश्रयों का सहारा लेने लगा। वह आग के महत्व को समझा तथा उसे अपने निवास तक ला सकने में वह समर्थ हुआ, कच्चे माँस को खाने के बजाय उसे आग में भूनकर खाने लगा। सुरक्षा के लिए भी उसने आग को जलता हुआ बनाकर रखने का प्रयास किया होगा। घर्षण द्वारा आग को जलाना भी वह इसी काल में सीखा होगा।

बेलन घाटी के लोहदा नाले के तृतीय ग्रेवल (नदियों के तृतीय उच्चयन) के अपरदित जमाव से हड्डी को तराश कर बनाई गई नारी की आकृति (मातृदेवी) प्राप्त हुई है। महाराष्ट्र के जलगाँव जिले में स्थित पटणे नामक स्थल से आड़ी-तिरछी रेखाओं से अलंकृत शतुरमुर्ग के तीन अण्डकवक प्राप्त हुए हैं। भीमबैठका के प्राचीनतम् शैलचित्रों को नीले रंग के आधार पर उच्च-पुरापाषाण काल का माना गया है।

**जीवाश्म :** बेलन, सोन, नर्मदा तथा गोदावरी के तृतीय ग्रेवल के स्तरित जमावों से पशुओं के अनेक जीवाश्म प्रतिवेदित हैं इनमें सुअर, भालू, हाथी, हिरण, गाय, भैंस, घोड़ा आदि पुमुख हैं। इन जीवों को उच्च-प्रातिनूतन काल का माना जाता है।

## व्याख्यान-4

### 4. मध्य-पाषाण काल (8000 ई.पू. लगभग, Mesolithic Period) :

**परिभाषा :** वह काल जो पाषाण काल के मध्य में आता है मध्य पाषाण काल के नाम से जाना जाता है। स्तरीकरण में यह मध्यपुरा पाषाण काल अथवा उच्चपुरा पाषाण काल के ऊपरी स्तर में पाया जाता है।

**उपकरण प्रकार :** इस काल में पाषाण के लघु फलकों को आवश्यकतानुसार आकार प्रदान कर उपकरण बनाए गए जिसमें ज्यामितीय अथवा अज्यामितीय उपकरण पाए जाते हैं। इन उपकरणों को लघु पाषाण उपकरण के नाम से भी जाना जाता है तथा इसे सीरीज़-IV के अन्तर्गत रखा जाता है। प्रमुख उपकरण प्रकारों में तक्षणी, बेधक, छिद्रक, अनेक प्रकार की खुरचनियाँ, चान्द्रिक, त्रिकोण, समानान्तर एवं समलम्ब चतुर्भुज, वर्ग, स्कन्धित बाण-फलक आदि हैं।

**पाषाण प्रकार :** उच्चपुरा पाषाण काल के समान ही इस काल में भी बारीक कणों वाले पत्थरों का प्रयोग उपकरण निर्माण में किया गया। इससे स्पष्ट होता है कि मानव का आपसी सम्पर्क तथा अनुभव का लाभ आने वाले कालों के मानव को निरंतर मिलता रहा। फलस्वरूप इस काल में भी मानव ने चिकने पत्थरों को पहचानने का हुनर पूर्वजों से सीखा तथा अपने समय में उसका उपयोग किया। अतः इस काल में भी चाल्सिडोनी, अगेट, चर्ट, जैस्पर, पिलंट आदि बारीक कणों वाले छोटे-छोटे पत्थरों को उपकरण निर्माण में चुना गया। इन पत्थरों से निर्मित उपकरण आकार में छोटे होते हुए भी तीक्ष्ण कार्यांग युक्त होने के कारण कार्य क्षमता में अधिक प्रभावशाली होते हैं तथा छोटे-छोटे कार्यों में उनका उपयोग किया जा सकता है।

**उपकरण निर्माण तकनीक :** उपकरण निर्माण में एक निश्चित समय सीमा का निर्धारण नहीं किया जा सकता जो अचानक परिवर्तन की स्थिति को दर्शा सके। चूँकि उपकरण छोटे आकार के प्राप्त होते हैं अतः छोटे बेलनाकार हथौड़े का प्रयोग उपकरण निर्माण में किया गया स्पष्ट होता है। पूर्व के उच्च-पुरापाषाण काल के समान इस काल में भी हथौड़ा, निपीडन एवं पुनर्गठन पद्धतियों का प्रयोग आमतौर पर प्रचलित रहा। प्राप्त होने वाले विभिन्न प्रकार के उपकरणों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि हथौड़ा पद्धति से आघात-स्थल निर्मित करने के पश्चात् निपीडन पद्धति से फलकीकरण करके साफ क्रोड बना कर निपीडन पद्धति से ही वांछित ब्लेड (तक्षणी) इस काल में प्राप्त कर लिए जाते रहे। इन्हीं ब्लेडों को पुनर्गठन पद्धति से

इच्छित आकार प्रदान कर उपकरण निर्मित करने की बात भी स्पष्ट होती है। इस प्रकार पुनर्गठन का प्रयोग वांछित आकार देने, विशिष्ट धार, आरी नुमाद्द बनाने तथा अनावश्यक धार को मंद करने में अधिक प्रयोग किया गया दिखलाई देता है।

#### सांस्कृतिक अवस्था—

इस काल के अन्तिम चरण में हस्त निर्मित मृद्भाण्ड, शवाधान, स्तम्भगर्त आदि भी प्राप्त होते हैं। मध्य-पाषाण काल के समय मानव ने लकड़ी, घास, फूस आदि की सहायता से भवन निर्माण करना आरम्भ कर समूह में बसने लगा। यहीं से मानव के सामाजिक प्राणी बनने के स्पष्ट संकेत मिलने लगते हैं। मृद्भाण्डों का निर्माण एवं शवाधानों के रूप में अन्तिम संस्कार के प्रमाणों के उपलब्ध होने से उसकी सामाजिक उन्नति तथा संस्कार पर प्रकाश पड़ता है। इस काल में पाषाण से निर्मित स्कंधित लघु बाण फलकों के प्राप्त होने से आखेट तथा सुरक्षा में धनुष-बाण के प्रयोग का आभास मिलता है।

उत्तर-पश्चिम भारत में जिस समय सैन्धव संस्कृति का प्रसार हो रहा था उस समय शेष भारत में मध्य पाषाण काल की समाप्ति तथा ग्रामीण संस्कृतियों, जिन्हें नव पाषाणिक संस्कृति तथा ताम्र पाषाणिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है का उदय एवं प्रसार हो रहा था।

प्राचीन संस्कृतियों की पहचान उनके द्वारा प्रचलित एक विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्ड परम्परा से होती है, भले ही उनका प्रचलन कम क्यों न रहा हो। आधुनिक युग की भाँति प्राचीनकाल में धातु के बर्तनों का प्रचलन नहीं था। मानव मिट्टी के बर्तनों पर पूर्ण रूप से आधारित था। भोजन, जल, खान-पान, भण्डारण आदि अनेक कार्यों में उसी का उपयोग करता था। अतः मृद्भाण्डों की आवश्यकता और व्यापकता इतनी अधिक थी कि प्रत्येक संस्कृति में उसकी आपूर्ति केवल विशिष्ट प्रकार के कीमती मृद्भाण्डों द्वारा नहीं हो सकती थी। क्योंकि, विशिष्ट प्रकार के मृद्भाण्डों का निर्माण आम मृद्भाण्डों की अपेक्षा कठिन एवं खर्चीला बैठता था। परिणामस्वरूप, साधारण कोटि के मृद्भाण्ड, जो निर्माण में सरल एवं सस्ते पड़ते थे, का प्रयोग विशिष्ट मृद्भाण्डों के साथ-साथ होता रहा। हालाँकि साधारण पात्र परम्परा में भी भिन्नता दिखलाई पड़ती है, जो ऐसा प्रतीत होता है कि वह मानव की रुचि अथवा दूसरी संस्कृतियों के सम्पर्क के कारण औद्योगिक विचारधारा के आदान-प्रदान के फलस्वरूप थी।

भारत में मृद्भाण्डों की उत्पत्ति की निश्चित तिथि देना युक्ति संगत न होगा, क्योंकि वह मुख्यरूप से खोज कार्यों पर आधारित है। नित नए होने वाले पुरास्थलों के उत्खनन से मृद्भाण्ड की उत्पत्ति की तिथि कहाँ पहुँचकर स्थिर होगी, नहीं कहा जा सकता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मध्य पाषाण काल में मनुष्य मिट्टी के बर्तनों के निर्माण से परिचित हुआ। हस्त-निर्मित अथवा धीमी गति के पट पर निर्मित पात्र उसकी आरम्भिक अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। मानव संस्कृति अथवा सभ्यता के विकास के साथ-साथ मृद्भाण्डों के निर्माण तकनीक में भी भारी विकास हुआ। पात्रों को सही आकार देने के लिए तीव्रगति से घूमने वाले चाक, भाण्डों को पकाने के लिए उत्तम कोटि की भट्टी, मनमोहक लेप, चमक, चित्रकारी, आकार-प्रकार आदि के फलस्वरूप मिट्टी के पात्रों की लोकप्रियता दिनों दिन बढ़ती गई।

मृद्भाण्डों की निर्माण तकनीक सम्पूर्ण भारत के कोने-कोने में स्थित प्राचीन संस्कृतियों में कहाँ से तथा कब पहुँची निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। भिन्न-भिन्न प्रदेशों की, विभिन्न संस्कृतियों की मिलती-जुलती तिथियाँ उसके प्रसार की दिशा में भ्रम उत्पन्न करती हैं। ऐसा तो सम्भव नहीं है कि मृद्भाण्ड निर्माण तकनीक भारत की समकालीन संस्कृतियों को एक साथ वरदान के रूप में प्राप्त हो गई थी। वह, निश्चित रूप से मानव के आपसी सम्पर्क के साथ सम्पूर्ण भारत में फैली होगी। मृद्भाण्डों के समान, प्राचीन मानव के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित वस्तुओं एवं भवन निर्माण तकनीक भी उनकी उत्पत्ति, विकास एवं प्रसार पर प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं।

## व्याख्यान-5

### **नव-पाषाण कालीन संस्कृति (Neolithic Period) :**

डोलेराइट, बेसाल्ट, सिस्ट आदि काले रंग के चिकने पत्थरों को, हथौड़ा पद्धति से फलकीकृत कर, घिसकर चिकना तथा चमकदार कर, विभिन्न आकार-प्रकार के उपकरण निर्मित किए गए। उपकरण प्रकारों में कुल्हाड़ी, छेनी, बसुला, वलय, सिल-बट्टा आदि प्रमुख हैं। इस काल में मनुष्य समुदायों में एक स्थान पर आकर बसने लगा, उद्योग-धंधे, पशु पालन करने लगा (अर्थात् वह एक सामाजिक प्राणी बना)।

नव-पाषाण काल को मानव के जीवन का विकास युग माना जा सकता है, क्योंकि इस समय तक भवन निर्माण, पशु पालन, कृषि कार्य, उद्योग-धंधे आदि आरम्भ हो चुके थे, जिनके प्रमाण अनेक पुरा-स्थलों से प्राप्त हुए हैं। मानव का समूह में एक स्थान पर बसना, मानव के पूर्ण रूप से सामाजिक प्राणी बनने का प्रथम उदाहरण प्रस्तुत करता है। ताम्र धातु के प्राप्त होने से स्पष्ट होता है कि मानव खनिज से धातु को निकालना, गलाना तथा उससे वस्तु का निर्माण करना जान चुका था। डोलेराइट जैसे पाषाण से चिकने एवं चमकदार कुल्हाड़ी, छेनी, पाषाण वलय, सिल-बट्टे बसुला फसल काटने का उपकरण आदि निर्मित किए गए, अस्थि के स्कंधित तीराग्र, सूई, मनके, मृद्भाण्ड, शवाधान आदि जीवन से जुड़े आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। क्षेत्रीय आधार पर भारत में निम्नलिखित नव पाषाणिक संस्कृतियाँ पाई जाती हैं –

1. उत्तर भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति,
2. पूर्वी भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति,
3. पूर्वोत्तर भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति,
4. मध्य भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति एवं
5. दक्षिण भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति

**उत्तर भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति** (2300 ई.पू. लगभग) के अवशेष कश्मीर में स्थित बर्जहोम तथा गुफकराल से उत्खनन कर प्राप्त किए गए हैं, चूँकि उत्तर भारत में ठण्ड का प्रकोप अधिक था अतः इस संस्कृति के लोग भूमि में गड्ढा खोदकर उनमें रहते थे। ये गड्ढे ऊपर से सँकरे तथा नीचे से चौड़े होते थे, नीचे उतरने के लिए सीढ़ियों की व्यवस्था भूमि को काट कर की गई थी। भीतरी सतह में आले बने हुए थे तथा सतह को लेपकर चिकना किया गया था। भूमि के ऊपर गड्ढे के चारों ओर लकड़ी के खम्भे गाड़कर लकड़ी, घास-फूस आदि की सहायता से छत का निर्माण किया गया था। यहाँ की संस्कृति की यह विशेषता भी रही है कि लोग पाषाण उपकरणों के अतिरिक्त अस्थि अथवा श्रृंगों के उपकरण जैसे-तीराग्र, छिद्रक, सूजा, बेधक, छेनी, हारपून आदि का प्रयोग भी करते थे।

आधार पर चटाई छाप युक्त हस्त निर्मित मृद्भाण्ड का निर्माण वे अपने खान-पान की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर करते थे। चूल्हे से स्पष्ट होता है कि भोजन को पकाकर तैयार किया जाता था। पत्थर के सिल-बट्टे खान-पान से सम्बन्धित कुछ चीजों को पीसने के लिए प्रयोग में लाया जाता था। जीव-जन्तुओं की प्राप्त हुई अस्थियाँ मानव के मांसाहारी प्रवृत्ति की ओर इंगित करते हैं। लोग जंगली भेड़, हिरण, भालू, भेड़िया, गाय, बैल, सुअर, खरगोश, मछली आदि जंगली पशुओं का शिकार करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि मुर्गा, भेड़ तथा बकरी को पाला भी जाता था। लोग, माँस के अतिरिक्त गेहूँ, मसूर तथा जौ को भोजन के रूप में प्रयोग में लाते थे। कुदाल, पाषाण वलय तथा काटने का उपकरण कृषि कार्य की ओर संकेत करते हैं। मिट्टी की चूड़ियाँ, ताम्र निर्मित कुण्डलित पिन्, श्रृंग का बना मनका, हड्डी के मनके, सिलखड़ी तथा पत्थर के मनकों से स्पष्ट होता है कि लोग भिन्न-भिन्न सामग्री के बने मनकों का प्रयोग आभूषण के रूप में करते थे।

समाज में दो प्रकार के शवाधानों का प्रचलन था— प्रथम ऐसे शवाधान जो पूर्ण मानव को दफनाने के, दूसरे ऐसे जिनमें मानव की कुछ चुनी हुई अस्थियों को ही दफनाया गया था। कपाल-क्रिया (कपाल को तोड़ने की मान्यता) भी दिखलाई पड़ती है। कुछ शवाधान ऐसे भी पाए गए हैं जिनमें मानव के साथ कुत्ता, साकिन अथवा भेड़िये को भी दफना दिया गया था, सम्भवतः वे उनके बड़े प्रिय रहे होंगे।

**पूर्वी भारत की नव पाषाणिक संस्कृति** (2300 ई. पू. लगभग) के अवशेष मुख्य रूप से चिरांड (जिला सारन, बिहार) के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। लोग बाँस-बल्लियों तथा घास-फूस के बने भवनों में रहते थे। पाषाण की अनुपलब्धता के कारण बहुत कम पाषाण उपकरण ही निर्मित किए गए थे। उनके स्थान पर अस्थियाँ तथा श्रृंगों के बने विभिन्न प्रकार के उपकरणों के साथ-साथ लघु पाषाण उपकरणों का प्रचलन था। अस्थि उपकरणों में खुरचनी, बरमें, बाँण, बेधक, हथौड़े, कुदाल आदि प्रमुख थे। लघु-पाषाण उपकरणों में खुरचनी, बाँण, चान्द्रिक, छिद्रक, बेधक, तक्षणी आदि उपयोग में लाए जाते थे। लोग मूँग, धान, जौ, गेहूँ तथा मसूर की खेती करते थे। प्राप्त अस्थियों से स्पष्ट होता है कि वे गाय बैल तथा भैंस को

पालते थे तथा हाथी, बारहसिंघा, हिरण एवं गैंडे का शिकार करते थे। यहाँ के लोग हस्त-निर्मित मृद्भाण्डों के अतिरिक्त, धीमी गति के चाक पर निर्मित मृद्भाण्डों का प्रयोग भी करते थे। मृद्भाण्डों के प्रमुख प्रकारों में स्लेटी, काले, लाल, धूसर, तथा कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड पाए गए हैं।।

बिहार के सिंहभूम जिले में स्थित बरुडीह तथा उड़ीसा के मयूरभंज जिले में स्थित कुचई पुरास्थलों के उत्खनन से भी इस क्षेत्र की नव-पाषाणिक संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। इसी प्रकार इलाहाबाद के समीप स्थित कोल्डिहवा, पँचोह तथा महगड़ा का उत्खनन भी किया जा चुका है जहाँ से भी नव-पाषाणिक संस्कृति के अवशेष आमतौर पर पूर्वी भारत की संस्कृति से मेल खाती पाई गई हैं। स्तम्भ गर्त के चिह्न, बाड़ा, धान के दाने तथा कुछ विशिष्ट प्रकार के चमकीले तथा अलंकृत मृद्भाण्ड यहाँ की प्रमुख उपलब्धियाँ हैं।

**पूर्वोत्तर भारत की नव-पाषाणिक संस्कृति** (2300 ई.पू. लगभग) यह अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, नागालैण्ड, असम मेघालय आदि क्षेत्रों से पाई गई है। प्रमुख पुरास्थलों में दओजली हैडिंग, सरुतरु, मरकडोला आते हैं जिनका उत्खनन विभिन्न संस्थानों द्वारा कराया गया है। यहाँ के हस्त निर्मित मृद्भाण्डों की मिट्टी में रेशे मिलाए गए थे। कुछ चाक पर निर्मित मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं जो उनके उन्नत तकनीक के विकास पर प्रकाश डालते हैं। पाषाण उपकरणों के निर्माण में स्थानीय बलुआ, क्वार्टजाइट तथा शेल पत्थरों का प्रयोग किया गया है।

**दक्षिण भारत की नव-पाषाणिक ताम्र-पाषाणिक संस्कृति** का अस्तित्व 2300 ई.पू. से 1100 ई.पू. तक रहा। इस संस्कृति के अवशेष संगनकल्लू, ब्रम्हगिरी, पिक्लिहाल, नागार्जुनकोंडा, मस्की, उतनूर, टी. नरसीपुर, टेक्कलकोटा आदि से प्राप्त हुए हैं। इस संस्कृति के लोग लकड़ी, घास-फूस आदि की सहायता से भू-सतह पर भवन निर्मित करते थे। वृत्ताकार लकड़ी के स्तम्भों को भूमि में गड़ढा खोदकर स्थापित किया जाता था। तत्पश्चात् बाहर की ओर से बुनी हुई चटाई को लपेट कर उस पर मिट्टी का लेप किया जाता था, जिससे वायु अथवा वर्षा-जल से बचा जा सके। छत का निर्माण लकड़ी तथा घास-फूस से किया जाता था। मिट्टी को कूटकर तथा उसपर गोबर एवं मिट्टी से लीपकर फर्श बनाई जाती थी।

इस संस्कृति के लोगों का प्रमुख व्यवसाय पशुपालन था जिनमें भैंस, भेड़, गाय, बैल, सूअर तथा बकरी विशेष उल्लेखनीय हैं। पाषाण से निर्मित सिल-बट्टों से स्पष्ट होता है कि अनाज को दूर-दुरा पीसकर, भोजन के रूप में प्रयोग में लाया जाता था। लोग मूँग, कुलथी, चना तथा रागी की खेती करते थे। हस्त-निर्मित मिट्टी के बर्तनों, जिनका रंग लाल, स्लेटी अथवा धूसर था, का प्रयोग इस संस्कृति के लोग करते थे। बर्तनों पर अलंकरण करने की परम्परा भी थी, जिससे उनको आकर्षक बनाया जा सके। मिट्टी के बने हस्त निर्मित कुकुदमान वृषभ की प्राप्ति, इस संस्कृति में उनकी आर्थिक उपयोगिता की ओर संकेत करते हैं, सम्भवतः, समाज में उनका धार्मिक महत्त्व भी रहा होगा।

इस संस्कृति के लोग काले रंग के ट्रेप अथवा बेसाल्ट पत्थर से बनाए गए नव-पाषाणिक संस्कृति में प्रचलित उपकरणों के अतिरिक्त लघु-पाषाणिक तक्षणी तथा बिना छिद्र वाली ताम्र की बनी कुल्हाड़ियों का उपयोग अपने कार्यों को सम्पादित करने में किया करते थे। उत्खनन से प्राप्त तीन मानव कंकालों में से एक बालक, एक पुरुष तथा एक स्त्री का है जो दकन के द्रविड़ निवासियों के प्रतीत होते हैं।

## व्याख्यान-6

### **प्राक्-सैन्धव संस्कृति (Pre-Harappan Culture) :**

प्राचीर से घिरी नगर सभ्यता, 1 : 2 : 3 के अनुपात की ईंटों से भवन निर्माण, स्टीटाइट तथा फियांस के मनके आदि विशिष्टताएँ हैं। मृद्भाण्डों को निम्नलिखित सात प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है—

#### **अ. प्रकार :**

स्वलेपित, हल्के लाल रंग का धीमी गति के चाक पर निर्मित मृद्भाण्ड, बारी तथा आधार को चिपकाकर बनाया गया है। इसकी बाहरी सतह पर काले तथा सफेद रंग से चित्रकारी की गई है। चित्रण अभिप्रायों में जालक, अर्धवृत्त, क्षैतिज एवं तिर्यक रेखाओं के समूह, प्रमुख हैं। पात्र प्रकारों में, छोटे-बड़े मटके, विभिन्न आकार-प्रकार के कटोरे हैं।

#### **ब. प्रकार :**

तीव्र गति के चाक पर निर्मित माण्ड, बाहरी निचला आधा भाग खुरदुरा बनाया गया है। काले, सफेद अथवा लाल रंग से सतह पर चित्रकारी की गई है। चित्रण अभिप्रायों में पुष्प, त्रिशूल जैसे पीपल के पत्ते, सूरजमुखी, जीव-जन्तु (हिरण), पक्षी (बतख) प्रमुख हैं, जार तथा मटके प्रमुख पात्र प्रकार हैं।

#### **स. प्रकार :**

बारीक छनी हुई मिट्टी तथा चाक पर निर्मित लाल लेप युक्त मृद्भाण्ड, अलंकरण अभिप्रायों में ग्रीवा पर काले रंग की चौड़ी पट्टी, संकेन्द्रित एवं अलंकृत वृत्त, जालक, अर्धवृत्त, लहरदार रेखाएँ, माला, मत्स्य शल्क, त्रिकोण आदि हैं। पात्र प्रकारों में ऊर्ध्व पार्श्व वाले कटोरे, ढक्कन, थालियाँ, साधार थालियाँ, छोटे मटके आदि हैं।

#### **द. प्रकार :**

मोटी गढ़न (अनुप्रस्थ-काट) के लाल लेप युक्त, चाक पर निर्मित लाल मृद्भाण्ड। भीतरी सतह पर उकेर कर अलंकरण किया गया है। अलंकरण अभिप्रायों में क्षैतिज अथवा लहरदार रेखाएँ प्रमुख हैं। बाहरी सतह पर प्रायः मोटी क्षैतिज रेखाओं का अलंकरण है। बड़े जार (कोठियाँ), कटोरे तथा तसले प्रमुख पात्र प्रकार हैं।

#### **य. प्रकार :**

पाण्डु रंग का, चाक पर निर्मित मृद्भाण्ड, उनकी बाहरी सतह पर काले रंग से चित्रकारी की गई है। यही नहीं, कभी-कभी बैंगनी अथवा सफेद रंग से की गई चित्रकारी भी प्राप्त होती है। चित्रण अभिप्रायों में तिर्यक रेखाएँ, क्षैतिज रूप में सिग्मा समूह, जुड़े हुए अर्धवृत्त, जालक आदि हैं।

#### **र. प्रकार :**

धूसर रंग का चाक पर निर्मित मृद्भाण्ड, उनकी बाहरी सतह पर काले अथवा सफेद रंग से चित्रकारी की गई है। प्रमुख पात्र प्रकारों में, साधार तशतरियाँ, तसले, कटोरे, मटके आदि हैं।

### **सैन्धव संस्कृति :**

प्राचीर से घिरा सुनियोजित नगर, समकोण पर काटती हुई सड़कें, पक्की ढँकी नालियाँ, 1 : 2 : 4 अनुपात की ईंटों का प्रयोग, निजी तथा सार्वजनिक भवन, प्रमुख पुरावस्तुओं में विभिन्न प्रकार की मोहरें, चर्ट पत्थर की लम्बी तक्षणियाँ (ब्लेड), काँसे की वस्तुएँ, स्टीटाइट (पत्थर) के बटन के आकार के सफेद मनके, फियांस की चूड़ियाँ, विशेष प्रकार के मिट्टी के खिलौने, मातृकाएँ एवं जीव-जन्तुओं की आकृतियाँ आदि प्रमुख विशिष्टताएँ हैं।

इस संस्कृति से सम्बन्धित मृद्भाण्डों की विविधता का वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इनके पात्र प्रमुख रूप से पीलापन लिए हुए लाल, पाण्डु एवं धूसर रंगों में विभक्त किया जा सकता है। मृद्भाण्डों की यह विशेषता रही है कि उनके निर्माण में विशेष सावधानी बरती गई है। बारीक छनी हुई मिट्टी एवं चाक पर निर्मित पात्रों को उत्तम कोटि की भट्टी में पकाया गया है। उनकी बाहरी सतह पर काले रंग से चित्रकारी की गई है। चित्रण अभिप्रायों में—मत्स्य शल्क, वर्ग, रेखाओं के समूह, पीपल के पत्ते, पुष्प, चैन, लहरदार, सीधी एवं क्षैतिज रेखाएँ जीव-जन्तु की आकृतियाँ प्रमुख हैं। विशिष्ट पात्र प्रकारों में छिद्रित जार, अंग्रेजी के 'एस' अक्षर के आकार के (पार्श्व भाग वाले) जार, साधार तशतरियाँ, नुकीले आधार वाले कुल्हड, साधार कप, चूसक, बीकर, हैंडल युक्त कटोरे, ढक्कन, तसले, कटोरे आदि प्रमुख हैं।

## व्याख्यान-7

### **ताम्र-पाषाणिक संस्कृतियाँ**

मूलरूप से ग्रामीण जन-जातीय संस्कृतियाँ हैं। इन संस्कृतियों में लोग ताम्र उपकरणों के साथ-साथ लघु-पाषाण उपकरणों का प्रयोग भी करते थे अतः इन संस्कृतियों को संयुक्त नाम अर्थात् ताम्र-पाषाणिक संस्कृति के नाम से जाना जाता है। इनके अन्तर्गत निम्नलिखित संस्कृतियाँ आती हैं, जो कि क्षेत्र अथवा स्थान के नाम पर जानी जाती हैं –

1. कायथा ताम्र-पाषाणिक संस्कृति,
2. आहड़ ताम्र-पाषाणिक संस्कृति,
3. मालवा ताम्र-पाषाणिक संस्कृति तथा
4. जोर्वे ताम्र-पाषाणिक संस्कृति ।

**कायथा ताम्र-पाषाणिक संस्कृति** (2000 ई.पू. लगभग), सर्वप्रथम कायथा (उज्जैन के समीप) नामक स्थान से प्रकाश में आई, फलस्वरूप इसका नाम कायथा ताम्र-पाषाणिक संस्कृति रखा गया। इस संस्कृति के अवशेष कायथा, आजाद नगर, बिलखेड़ा, मनोती, माहिदपुर, दंगवाड़ा, रुनिजा आदि से प्राप्त हुए हैं। कायथा से एक मटके में ताँबे की दो कुल्हाड़ियाँ प्राप्त हुई हैं जिन्हें साँचे में ढालकर बनाया गया था। लकड़ी काटने के लिए उनका उपयोग होता रहा होगा। मिट्टी की चूड़ियाँ, गोमेद, कार्नेलिनन के मनको के अतिरिक्त, एक मटके से 40,000 स्टीटाइट के बने छोटे मनके विशेष उल्लेखनीय पुरा-निधि हैं जिनका उपयोग आभूषण के रूप में होता रहा होगा। लघु पाषाण उपकरणों के अन्तर्गत आने वाले, चान्द्रिक, ब्लेड, बेधक आदि का प्रयोग काटने, बेधने, छीलने, तराशने आदि कार्यों में किया जाता रहा होगा।

लोग लकड़ी, घास-फूस से बने मकानों में रहते थे, जिनकी दीवारें बुनी हुई चटाई पर मिट्टी लेपकर बनाई जाती थीं।

इस संस्कृति के मृद्भाण्डों को बारीक छनी हुई मिट्टी से निर्मित किया जाता था। चाक पर निश्चित आकार देने के पश्चात् उनकी बाहरी सतहों पर चित्रकारी कर अलंकृत किया जाता था तत्पश्चात् उन्हें भट्टी में भली-भाँति पकाया जाता था। यह उनकी कला के प्रति रुचि एवं उन्नत तकनीक से परिचित होना स्पष्ट करता है। इस संस्कृति से सम्बन्धित चाक निर्मित मृद्भाण्डों को निम्नलिखित चार प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

#### **1. पतली गढ़न के मृद्भाण्ड (Fine Sturdy Ware) :**

इस प्रकार के मृद्भाण्ड छनी हुई बारीक कणों वाली मिट्टी को भली-भाँति सानकर, चाक पर निर्मित किए गए हैं। यही नहीं, लेप एवं चित्रकारी करने के पश्चात् भट्टी में उन्हें पर्याप्त वायु एवं तापक्रम पर पकाया भी गया है। इसी कारण वे मजबूत गढ़न के हैं। बाहरी सतह के बारी से लेकर स्कन्ध तक के भाग तथा यदा-कदा आधार तक, बाहरी सतह पर लाल अथवा भूरे रंग का गाढ़ा लेप किया गया है। इसी लेप पर बैंगनी रंग से चित्रकारी की गई है। प्रमुख चित्रण अभिप्रायों में तिर्यक, ऊर्ध्व, आड़ी-तिरछी रेखाएँ बन्दनवार (Loops) आदि हैं। इस श्रेणी के पात्र प्रकारों में कटोरे, जार, कोठियाँ आदि पाए जाते हैं।

#### **2. पाण्डु रंग के मृद्भाण्ड (Buff Ware) :**

इस कोटि के अन्तर्गत आने वाले मृद्भाण्ड भी पतली एवं मजबूत गढ़न के हैं। परन्तु इनकी बाहरी सतह पर पाण्डु रंग का लेप अथवा पुताई मिलती है, जिस पर लाल रंग से चित्रकारी की गई है। प्रमुख चित्रण अभिप्रायों में समानान्तर रेखाएँ, तिर्यक रेखाएँ, बन्दनवार, माला, मणिकाभ, ज्यामितीय आकार आदि हैं। इस श्रेणी के पात्र प्रकारों में- लोटा, घड़ा, जार, तसले आदि प्राप्त होते हैं।

#### **3. कंकती मृद्भाण्ड (Comed Ware) :**

यह हल्के लाल रंग का मृद्भाण्ड है जिस पर किसी प्रकार का लेप नहीं किया गया है वरन् ये स्वलेपित हैं। इस श्रेणी के पात्रों की बाहरी सतह पर तथा यदा-कदा भीतरी सतह पर, कंधी जैसे उपकरण से उकेर कर, आड़ी-तिरछी अथवा क्षैतिज रेखा समूहों का चित्रण किया गया है, यही नहीं, कभी-कभी उन पर लाल रंग से भी चित्रण किया गया है। पात्र प्रकारों में- कटोरे, थालियाँ तसले आदि प्रमुख हैं।

#### **4. हस्त-निर्मित मृद्भाण्ड (Hand Made Ware) :**

इस वर्ग के मृद्भाण्ड चाक निर्मित न होकर हस्त-निर्मित हैं। इनकी सतहों को उकेर कर अथवा मिट्टी चिपकाकर अलंकृत किया गया है। पात्र प्रकारों में कोठियाँ तसले आदि बड़े पात्र हैं।

**आहड़ ताम्र पाषाणिक संस्कृति** (2100 ई. पू. लगभग), राजस्थान के उदयपुर जिले में स्थित, आहड़ नामक पुरा-स्थल के उत्खनन से प्रकाश में आई है। उत्तर-पश्चिम भारत के राजस्थान तथा गुजरात में, जब सैंधव संस्कृति का अस्तित्व था तब अरावली पर्वत श्रृंखला के पश्चिम में, बानास सरिता के किनारे-किनारे इस संस्कृति का उदय एवं प्रसार हुआ, इस कारण इस संस्कृति को बानास संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है। उदयपुर, अजमेर, जयपुर, चित्तौड़गढ़, गिलुंड, कायथा, दंगवाड़ा, नावदाटोली, मनोती, नागदा, कोटरा, आवरा आदि स्थलों से इस संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

एक विशेष प्रकार के श्वेत चित्रित कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड का प्रयोग इस संस्कृति के लोग करते थे। ताम्र धातु से ये लोग भली-भाँति परिचित थे। चूड़ियाँ, छल्ले, चाकू, कुल्हाड़ियाँ आदि ताम्र निर्मित पुरा-वस्तुएँ तथा कायथा से इस संस्कृति के अवशेषों के साथ लघु पाषाण उपकरणों का प्राप्त होना स्पष्ट करता है कि लोगों के जीवन में इनका विशेष महत्त्व था। बहुमूल्य पत्थरों तथा स्टीटाइट, सिलखडीद्ध के बने मनकों का उपयोग वे आभूषण के रूप में करते थे। विभिन्न प्रकार की गोटियाँ तथा मिट्टी की बनी वृषभ की मूर्तियाँ अपने मनोरंजन के लिए प्रयोग में लाते थे। भवन निर्माण के अन्तर्गत नींव में पाषाण खण्डों का प्रयोग होता था दीवारें मिट्टी अथवा कच्ची ईंट की बनाई जाती थीं जबकि छत के निर्माण में घास-फूस का प्रयोग होता था। गिलुंड के उत्खनन में पकी ईंटों के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। लोग भोजन पकाने के लिए चूल्हों तथा पीसने के लिए सिल-लोढ़े का प्रयोग करते थे। मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशु पालन था। धान की खेती के प्रमाण भी मिलते हैं। उत्खनन में भेड़ बकरी, सुअर, हिरण, कछुआ, मछली, वन-मुरगी आदि की अस्थियाँ प्राप्त हुई हैं जो मानव के विभिन्न पक्षों से जुड़े रहे होंगे।

इस संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले मृद्भाण्डों में श्वेत-चित्रित कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड प्रमुख है। ये पतली गढ़न के हैं तथा इनकी भीतरी तथा बाहरी अथवा केवल एक ही सतह पर, सफेद रंग से, तिर्यक, ऊर्ध्वधर, लहरदार, चापाकार आदि रेखा समूहों का चित्रण किया गया है। प्रमुख पात्र प्रकारों में विभिन्न प्रकार के कटोरे, थालियाँ आदि हैं।

**मालवा ताम्र-पाषाणिक संस्कृति** :1500 ई.पू. से 1200 ई.पू. तक लगभग इस के अवशेष कायथा, एरण, चंदोली, दंगवाड़ा, नागदा, मनोती, आवरा, कोटरा, महेश्वर, नावदाटोली, कक्रेहटा आदि स्थलों से प्राप्त हुए हैं जो स्पष्ट संकेत करते हैं कि यह संस्कृति सम्पूर्ण मालवा क्षेत्र में फैली हुई थी, यही कारण है कि इस संस्कृति को मालवा संस्कृति के नाम से जाना जाता है। परन्तु इसका विस्तार महाराष्ट्र के चन्दोली, ईनामगाँव, बाहल, प्रकाश, दाइमाबाद, सोनगाँव आदि स्थानों तक भी हुआ।

मालवा संस्कृति के अन्तिम समय में जोर्वे संस्कृति का उद्भव हो चुका था, फलस्वरूप मध्यप्रदेश के निमाड़ जिले के आस-पास से लेकर महाराष्ट्र के मालवा संस्कृति के मृद्भाण्डों के साथ-साथ जोर्वे संस्कृति के मृद्भाण्ड भी उत्खनन में मिलते हैं। मालवा संस्कृति से सम्बन्धित मृद्भाण्डों पर भरपूर चित्रण किया गया है।

इस संस्कृति से सम्बन्धित चाक निर्मित मृद्भाण्डों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, प्रथम वर्ग में पतली गढ़न के मृद्भाण्ड आते हैं तथा द्वितीय वर्ग में मोटी गढ़न के। यही नहीं, रंग के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जैसे- लाल रंग के, पाण्डु रंग के तथा धूसर रंग के। पतली गढ़न के भाण्ड आकार में छोटे हैं अतः उनमें लोटे तथा घड़े आदि पात्र प्रकार ही प्रमुख रूप से पाए जाते हैं, मोटी गढ़न के पात्र बड़े आकार के हैं, उनके निर्माण में बड़े कणों वाली मिट्टी, घास-फूस के तिनके तथा अन्नक का मिश्रण किया गया है। प्रमुख पात्र प्रकारों में- घड़े, कोठियाँ, तसले आदि आते हैं। इन पात्रों की बाहरी सतह पर काले रंग से अनेक प्रकार की चित्रकारी की गई है। प्रमुख चित्रण अभिप्रायों में- सूर्य, लहरदार सींग वाले लम्बे हिरण, वृषभ, कुत्ता, सियार, मगर, बाघ, सूकर, कच्छप, मानव आकृतियाँ आदि हैं। चित्रण की इतनी विविधता इस संस्कृति के मृद्भाण्डों के अतिरिक्त अन्यत्र देखने को नहीं मिलती।

मूलरूप से यह संस्कृति भी ग्रामीण संस्कृति थी, जिसमें लोग लकड़ी, बाँस, घास-फूस के वृत्ताकार, वर्गाकार अथवा आयताकार भवन बनाकर रहते थे। चटाई पर मिट्टी का लेप चढ़ाकर दीवार का रूप दिया जाता था। फर्श बनाने के लिए मिट्टी को कूटकर समतल करने के पश्चात् गोबर तथा मिट्टी से लीपकर चिकना बना दिया जाता था। मिट्टी के भवनों की दीवार की ऊँचाई अधिक नहीं होती थी। दीवारों पर स्तम्भ गर्त मिले हैं जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि दीवारों पर लकड़ी के स्तम्भ स्थापित कर, भवन की ऊँचाई बढ़ाई जाती थी तत्पश्चात् लकड़ी, घास-फूस के छत का निर्माण किया जाता था। आयताकार भवनों के कोने, अर्ध-वृत्ताकार बनाए जाते थे। दाइमाबाद तथा ईनामगाँव से मिट्टी की दीवारों से बने भवनों के अतिरिक्त गर्त-निवास के प्रमाण भी मिले हैं। दाइमाबाद में प्राप्त भवनों को कार्य एवं प्रमाण के आधार पर नामकरण भी किया गया है जैसे पुरोहित आवास, शिल्पी-भवन, धार्मिक-भवन, कार्यशाला आदि।

इस संस्कृति के लोग ताँबे की चिपटी कुल्हाड़ियाँ, खंजर, मछली पकड़ने वाले काँटे, चूड़ियाँ, लघु-पाषाण उपकरण आदि का उपयोग करते थे। उत्खनन में ऊपरी स्तरों से नव-पाषाण कालीन प्रस्तर की कुल्हाड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं। मिट्टी के बने मनके, चूड़ियाँ, कर्णाभूषण, गोटियाँ, गोलियाँ, गिप्पी आदि इस संस्कृति के साथ ही नहीं, अपितु, लगभग सभी

ताम्र-पाषाणिक संस्कृतियों में ये वस्तुएँ पाई जाती हैं। मकानों के भीतर सिल-बट्टे चूल्हे अनाज रखने वाले, भोजन तथा पानी से सम्बन्धित मिट्टी के भाण्ड आदि भी प्राप्त होते हैं।

मालवा संस्कृति के लोग गेहूँ, मसूर, चना, जौ, मूँग, मटर, धान आदि का कृषि कार्य करते थे तथा भेड़, बकरी, गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं को पालते भी थे। यही नहीं, जंगली जानवरों की अस्थियों के उपलब्ध होने से लोगों की शिकारी एवं माँसाहारी प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। दाइमाबाद तथा ईनामगाँव से शवाधानों के अन्तर्गत, गर्त अथवा कलश शवाधान के प्रमाण मिले हैं जिनमें मृतक की अस्थियों के साथ अंत्येष्टि सामग्री के रूप में मिट्टी के पात्र भी रखे हुए प्राप्त हुए हैं।

**जोर्वे ताम्र पाषाणिक संस्कृति** (1400 ई.पू. से 7000 ई.तक) के सम्बन्ध में सर्वप्रथम जानकारी महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले में स्थित जोर्वे नामक स्थान के उत्खनन से मिली थी, जिसके आधार पर इस संस्कृति का नामकरण किया गया है, यही नहीं, चूँकि इसका विस्तार महाराष्ट्र के अधिकांश भागों में पाया जाता है, अतः इसे महाराष्ट्र की ताम्र-पाषाणिक संस्कृति के नाम से भी जाना जाता है। ताप्ती, गोदावरी तथा भीमा नदियों की सहायक सरिताओं के तटों पर इस संस्कृति के अधिकांश पुरा-स्थल स्थित हैं। उत्खनित पुरा-स्थलों में जोर्वे, नेवासा, नासिक, बाहल, टेकवाड़ा, सावलदा, प्रकाश, सोनगाँव, अपेगाँव, ईनामगाँव, वाडकी, दाइमाबाद आदि प्रमुख हैं। इस संस्कृति की पात्र परम्परा के अन्तर्गत काले रंग से चित्रित लाल मृद्भाण्ड आते हैं जिनके उदर भाग प्रायः कोणीय (केरिनेटेड) हैं।

इस संस्कृति के चाक निर्मित मृद्भाण्ड प्रायः हल्के लाल रंग के तथा मजबूत गढ़न के हैं, जिन पर गाढ़ा लाल लेप किया गया है। इनके पात्रों की अपनी विशिष्टताएँ हैं। लम्बी वलयाकार टोंटी, कोणिक उदर, गर्दन विहीन बाहर की ओर फैलती हुई बारी, छोटे पाये युक्त पात्र आदि इनके प्रमुख लक्षण हैं। बारीकब छनी हुई मिट्टी को भली-भाँति सान कर तीव्र गति के चाक पर उन्हें निश्चित आकार प्रदान किया गया है। पात्र प्रकारों में— छोटे आधार वाली तश्तरी, अंत्येष्टि कलश, लोटे, घड़े, थालियाँ, कटोरे ढक्कन आदि हैं। पात्रों की लाल लेपित बाहरी सतह पर बारहसिंघा, कुत्ता, पेड़-पौधे, फूल, पत्ती, त्रिभुज, चतुर्भुज, सरल रेखाएँ आदि का चित्रण, काले रंग से किया गया है।

जोर्वे संस्कृति के लोग मिट्टी के भवनों का निर्माण अपने निवास के लिए करते थे जिनकी छत लकड़ी, घास-फूस की बनाई जाती थी। भवनों का भू-विन्यास प्रायः वर्गाकार अथवा आयताकार होता था जिनकी दीवारों के कोने मालवा संस्कृति के भवनों के समान अर्ध वृत्ताकार बनाए जाते थे। कुछ भवनों के भीतर आंगन की व्यवस्था भी थी। जबकि उत्तर जोर्वे संस्कृति के लोगों के भवन वृत्ताकार भू-विन्यास पर आधारित थे। भवनों के भीतर खाने-पीने से सम्बन्धित मृद्भाण्ड, सिल-लोढ़े लघु पाषाण उपकरण आदि प्राप्त हुए हैं, जो उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हैं।

कुछ पुरा-स्थलों से, मिट्टी की बनी हुई स्त्री तथा वृषभ की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कृति में उनका धार्मिक महत्त्व था। अन्य मानव उपयोगी वस्तुओं में बहुमूल्य पत्थरों, सिलखड़ी, पकी हुई मिट्टी तथा ताम्र धातु के मनके, ताम्र निर्मित चाकू, सूई, चूड़ियाँ, अंजन शलाका, कुल्हाड़ी आदि की गणना की जा सकती है। इनकी आर्थिक स्थिति प्रमुखरूप से कृषि तथा पशु पालन पर आधारित थी। कृषि के अन्तर्गत गेहूँ, मसूर, मटर, जौ, उड़द, मूँग आदि की खेती के अतिरिक्त कपास की खेती के संकेत भी मिलते हैं। ईनामगाँव से जामुन, ताड़, झरबेरी तथा बहेड़ा की गुठलियाँ प्राप्त हुई हैं। पालतू पशुओं में भेड़, बकरी, कुत्ता, बैल, गाय आदि प्रमुख थे। जंगली जानवरों की अस्थियों की उपस्थिति से लोगों की शिकारी प्रवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है।

जोर्वे संस्कृति से सम्बन्धित अनेक शवाधानों का उत्खनन किया जा चुका है, जो आवासीय क्षेत्रों में मिलते हैं। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि, इस संस्कृति के लोग मृतकों को, खोदे गए गर्त में, उत्तर दिशा की ओर मुख करके लिटाते थे तथा उनके साथ अंत्येष्टि सामग्री के रूप में, मिट्टी के पात्र तथा आभूषण रखते थे। कुछ मृतकों की टाँगें अलग कर दफनाया गया था, इसके पीछे सम्भवतः यह मान्यता रही हो, कि मृतक कहीं भाग न जावे। बच्चों को दफनाने के लिए प्रायः दो बड़े कलशों का प्रयोग होता था, अस्थि रखने के पश्चात् दोनों घड़ों के मुख आपस में सटाकर रख दिये जाते थे। एकल अंत्येष्टि कलश के भी उदाहरण मिलते हैं। इन अंत्येष्टि कलशों को गर्त में अन्य पात्रों के साथ दफना दिया जाता था।

## व्याख्यान-8

**गैरिक मृद्भाण्ड संस्कृति** से सम्बन्धित अवशेष, दो-आब क्षेत्र के बहरिया, सड़पई, अहिच्छत्र, अतरंजीखेड़ा, लालकिला, कसेरी, अम्बाखेड़ी, झिंझन, बहदराबाद, बिसौली, राजपुरपरसु, हस्तिनापुर, राजस्थान के नोह, जोधपुर, पंजाब के सारंगौर आदि स्थलों से प्रकाश में आए हैं। इस संस्कृति से सम्बन्धित लाल रंग के मृद्भाण्ड एक लम्बे समय तक पानी के सम्पर्क में पड़े रहने के कारण उनकी बाहरी लाल लेपित सतह भंगुर एवं नष्ट हो गई, फलस्वरूप, हाथ से छूने पर उनका गेरूआ रंग छूटकर हाथों में लग जाता है। इसी रंग के कारण इसे गैरिक मृद्भाण्ड कहा जाता है। इस संस्कृति के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी का अभाव है। अहिच्छत्र से साधारण तश्तरी, कटोरे, तसले तथा टोंटी युक्त पात्र प्राप्त हुए हैं। लालकिला से मिट्टी की दीवार के अवशेष के अतिरिक्त अनेक प्रकार के मृत्-पात्र, मिट्टी की मातृका, चूड़ियाँ, मनके तथा अस्थि के बेधक एवं तीराग्र प्राप्त हुए हैं।

अम्बाखेड़ी से एक चूल्हा सहित फर्श, मिट्टी की बनी पशु आकृतियाँ एवं बैल-गाड़ी के पहिए, मिट्टी तथा कार्नेलियन के बने मनके तथा पत्थर के लोढ़े प्रमुख उपलब्धियाँ हैं। जोधपुर से मिट्टी की कूटी हुई फर्श, मनके तथा केक के अतिरिक्त अस्थि उपकरण तथा चित्रित एवं अलंकृत पात्र भी प्रकाश में आए हैं। कच्ची ईंटों तथा मिट्टी के गारे से जोड़कर निर्मित अवशेष यहाँ की प्रमुख विशेषता है। सारंगौर से साँचे में ढाल कर बनाई गई ईंटों के उपयोग के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

ताम्र धातु के बने अनेक उपकरण जिन्हें **ताम्र निधि** के नाम से जाना जाता है, सड़पई, बहद्राबाद, खुरदी, शिओराजपुर, बिसौली, सरथौली, भग्यपीर, दुनरिया, फतेहगढ़, सीताभंजी, बानअसुरिया, संधाल परगना, जसपुर, ठकुरानी, गुंगेरिया, राजपुरपरसु, भागरापीर, पोंड़ी, बहरिया आदि से प्राप्त हुए हैं जिन्हें किस संस्कृति के साथ सम्बन्ध (किया जावे स्पष्टरूप से नहीं कहा जा सकता। गैरिक मृद्भाण्ड से सम्बन्धित कुछ पुरास्थलों से ताम्र उपकरणों की प्राप्ति, दोनों को सम्बन्धित करती है। ताम्र निधि के उपकरणों के अन्तर्गत मानव-आकृति, चिपटी, स्कन्धित तथा दो धारी कुल्हाड़ियाँ, सबल, परशु, छल्ले, काँटेदार तलवार, श्रृंग युक्त तलवार प्रमुख हैं।

**लौह कालीन संस्कृति** (1100 ई.पू. से 600 ई. पू. लगभग) के अन्तर्गत उत्तर भारत की चित्रित धूसर-पात्र-परम्परा संस्कृति तथा दक्षिण भारत की महा-पाषाणिक संस्कृति आती हैं। उत्तर भारत की संस्कृति से सम्बन्धित पुरास्थलों में अहिच्छत्र, आलमगीरपुर, अतरंजीखेड़ा, हस्तिनापुर, खलउआ, मथुरा, नोह आदि प्रमुख हैं। यह संस्कृति भी ग्रामीण संस्कृति थी। लोग अन्य साधारण मृद्भाण्डों के अतिरिक्त एक विशेष प्रकार के पात्र का प्रयोग भी करते थे जिसे चित्रित धूसर पात्र कहा जाता है। यह पात्र मिट्टी का बना, धूसर रंग का होता है तथा उस पर काले रंग से चित्रकारी की गई होती है। अन्य संस्कृतियों के समान इस संस्कृति में भी लकड़ी, घास-फूस के बने भवनों के संकेत मिलते हैं। रहन-सहन में भी कोई विशेष अन्तर दिखलाई नहीं देता। इस संस्कृति की प्रमुख विशेषता, लौह धातु के प्रयोग के आरम्भ होने से है। लोग, खनिज पदार्थों से लौह धातु को निकालना, गलाना तथा उनसे विभिन्न प्रकार के उपकरण बनाना जान चुके थे। इस धातु के उपकरणों में तीर एवं भाला फलक, छेनी, चाकू, कील, छल्ले, हँसिया आदि प्रमुख हैं। निश्चय ही, इस धातु के आगमन से मानव जीवन में एक क्रान्तिकारी प्रगति ने पदार्पण किया। इससे कृषि कार्य, आखेट, भवन निर्माण, सुरक्षा उद्योग-धंधे आदि पक्षों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

### चित्रित-धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति :

यह, धूसर अर्थात् सीमेंट के रंग का स्वलेपित मृद्भाण्ड है। इसकी निर्माण तकनीक अन्य मृद्भाण्डों के निर्माण तकनीक से भिन्न है। वास्तव में बारीक छनी हुई मिट्टी को सानकर, चाक पर मिट्टी को रखकर, निश्चित आकार देने के पश्चात् उसके बाहरी या भीतरी अथवा दोनों सतहों पर काले रंग से चित्रकारी करने के उपरान्त भट्टी में एक निश्चित तापक्रम (सेंग्रे. लगभग 900) पर पकाया जाता था, तापक्रम कम होने के कारण उसका पूर्ण आक्सीकरण नहीं हो पाता था। फलस्वरूप उसका रंग हल्के सीमेंट के रंग जैसा रह जाता था। चित्रण अभिप्रायों में लहरदार, तिर्थक रेखाएँ संकेन्द्रित वृत्त आदि पाए जाते हैं। प्रमुख पात्र प्रकारों में लोटा, थाली तथा कटोरा हैं।

ताम्र-पाषाणिक संस्कृति के तुरन्त पश्चात् ही लौह धातु ने भारत के अनेक जन-जाति संस्कृतियों में प्रवेश पा लिया। दक्षिण भारत की **महा-पाषाणिक संस्कृति** (लगभग 1100 ई.पू.) भी इससे अछूती नहीं रही। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि यह संस्कृति शवाधानों पर चिह्न के रूप में बड़े-बड़े पत्थरों को एक निश्चित परम्परानुसार रखते थे, इसी कारण इसे महा-पाषाणिक शवाधान भी कहा जाता है। ये शवाधान संगोरा, डोलमेन, मेनहिर, छत्र-शिला, फण-शिला, गुहा समाधि, कैर्न, कलश आदि नामों से जाने जाते हैं तथा उत्तर से लेकर दक्षिण तक अनेक प्रान्तों में पाए जाते हैं। प्रमुख पुरास्थलों में

ब्रह्मगिरी, संगनकल्लू, मस्की, पिक्लिहाल, नागार्जुनकोण्डा, टी. नरसीपुर, आदिचेन्नलूर, पेलवाय, चिंगलपट्टूर, कोर्कई, पैयमपल्ली, पोर्कलम, अमृतमंगलम, कुन्नत्तूर, शाणूर, कोटिया, बुर्जहोम, कुन्तिटोली, हेग्गाडेहल्ली, देओसा, खेड़ा, देवधुरा, बेहरा, जूनापानी, टेकलघाट, खापा आदि हैं। अतः इस प्रकार की समाधियाँ उत्तर भारत, विदर्भ तथा दक्षिण भारत में प्रमुख रूप से विकसित हुईं।

शवाधानों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम भूमि में खोदकर गर्त (गड्ढा) किया जाता था। मिट्टी की बनी शव-पेटिका (शार्कोफेगस) में मृतक को रखकर उसे ढक्कन से बन्द कर दिया जाता था तत्पश्चात् खोदे गए गर्त में उसे उतार कर रख दिया जाता था। शव-पेटिका के स्थान पर पाषाण पटियों के कक्ष बनाने की परम्परा भी दिखलाई देती है। शव-पेटिका के साथ अंत्येष्टि सामग्री भी रखी जाती थी (ऐसी मान्यता का आभास होता है कि मरणोपरान्त भी मृतक उस सामग्री का उपयोग करता होगा) इसके बाद मिट्टी तथा पाषाण खण्डों से गर्त को भर दिया जाता था तथा ऊपर से बड़े-बड़े पाषाण खण्डों को परम्परानुसार चिह्न के रूप में व्यवस्थित ढंग से रखकर, एक निश्चित आकार दे दिया जाता था जो आज भू-सतह पर दिखलाई पड़ते हैं। इन्हीं शवाधानों के उत्खनन से प्राप्त सामग्री ही इस संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध कराती है। अंत्येष्टि सामग्री के अंतर्गत कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड के अतिरिक्त अनेक प्रकार के लौह उपकरण जिनमें छेनी, हँसिया, फावड़ा, कुल्हाड़ी, बसुला, चाकू, मछली पकड़ने के काँटे, घोड़े की लगाम, तिपाई, बाण-फलक, नाल, तलवार, कटार, त्रिशूल आदि प्रमुख हैं, जो उनके जीवन के हर पक्ष से जुड़े हुए थे। इस संस्कृति से सम्बन्धित पुरास्थलों के उत्खनन से स्पष्ट होता है कि लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि तथा पशु-पालन था। कृषि के अन्तर्गत चना, जौ, रागी, धान आदि की खेती की जाती थी तथा पशुओं के अन्तर्गत भैंस, बैल, गाय, भेड़, बकरी, घोड़ा आदि को पाला जाता था।

इस प्रकार मानव उत्पत्ति से लेकर अनेक ग्रामीण अथवा जन-जातियाँ भारत देश में उत्पन्न एवं विकसित हुईं। सैधव संस्कृति से सम्बन्धित उत्तर-पश्चिम भारत को छोड़ सम्पूर्ण भारत में इन्हीं का राज बौद्ध-काल के पूर्व तक चलता रहा। प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में नगर सभ्यताओं का पदार्पण तो हुआ जिससे परिस्थितियों में अनेक मूलभूत परिवर्तन हुए, परन्तु फिर भी अनेक ग्रामीण संस्कृतियों का अस्तित्व बना रहा।

#### **उत्तरी-काली-ओपदार मृद्भाण्ड संस्कृति :**

नाम से ही विदित होता है कि यह उत्तर भारत में (प्रायः) पाई जाने वाली चमकदार काले रंग की पात्र परम्परा है। यदि धूसर मृद्भाण्ड की सतहों को चिकने पत्थर से रगड़कर चिकना करने के पश्चात् काले रंग से लेपित किया जावे तो वह उत्तरी-काली-ओपदार मृद्भाण्ड में बदल जावेगी। इसके निर्माण में, तापक्रम उतना ही रखा जाता था जितना कि चित्रित-धूसर मृद्भाण्ड निर्माण में अन्तर केवल इतना था कि चाक पर मिट्टी को भाण्ड का आकार देने के पश्चात् उस पर काला रंग लेपित कर चिकना किया जाता था तत्पश्चात् उसे धूप में सुखाकर नियंत्रित तापक्रम पर भट्टी में पकाया जाता था। पात्र प्रकारों में कटोरे तथा थालियाँ प्रमुख पात्र प्रकार हैं।